भारतीय समकालीन दर्शन में
प्रो. रानडे के योगदान
का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. जटाशंकर त्रिपाठी

डॉ जटाशंकर त्रिपाठी

जन्मस्थान :– गोपालापुर,
प्रतापगढ (उ.प्र.)
पिता का नाम :– स्व. श्री.
शिवशंकर तिवारी

जन्म १५ जुलाई सन् १९५८ ई., प्रारंभिक शिक्षा गाँव में ही तथा बी. ए. और एम. ए. इलाहाबाद विश्वविद्यालय से। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से ही सन् १९८३ ई. में 'डाक्टरेट' की उपाधि प्राप्त की। स्वतंत्र लेखन में बचपन से ही रुचि। आध्यात्मिक विषयों पर अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित। दर्शन एवं धर्म की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण धर्म एवं विज्ञान के समन्वयात्मक कार्य में क्रियाशील ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान, शान्ति-कुंज हरिद्वार से सम्बद्ध। काव्य के क्षेत्र में विशेष अभिरुचि तथा एक कहानी संग्रह प्रकाशित।

भारतीय समकालीन दर्शन में

प्रो. रानडे के योगदान

का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक

डॉ. जटाशंकर त्रिपाठी

एम्. ए. डी. फिल्.

प्रयाग विश्वविद्यालय; इलाहाबाद

अॅकेडमी ऑफ् कंपेरेटिव्ह फिलॉसफी

अॅण्ड रिलीजन बेलगाँव (कर्नाटक)

१९८६

प्रकाशक :

अॅकेडमी ऑफ् कंपेरेटिव्ह फिलॉसफी
अॅण्ड रिलीजन, श्री गुरुदेव मंदिर,
हिंदवाडी, वेलगांव–५९००११

© प्रकाशक

मूल्य रु. ३५/–

मुद्रक :

स्वस्तिक प्रिंटिंग प्रेस,
हंस टॉकीज रोड,
वेलगांव–५९०००२.

FOREWORD

Dr. Jata Shankar Tripathi, M. A., D. Phil. has done a splendid job by writing a doctoral thesis in Hindi on the Contribution of Gurudeva R. D. Ranade to Contemporary Indian Philosophy. So far as I know Dr. Tripathi is the first man to write a full-length monograph on the Philosophy of this great saint, and mystic philosopher of the last generation. As I see his work, three things meet the eye : 1) a sound grounding of the writer in the first principles underlying the philosophy of Mysticism, 2) a marked proficiency in Hindi language, and 3) the author's innate aptitude to understand and explain so clearly the spiritually structured statements of great saints. In this work Dr. Tripathi has amply shown how rich and promising the field of his research is, and how more and still more fruitful exploration remains to be done in the Philosophy of Gurudeva Ranade. Let a few more research scholars follow the lead given by Dr. Tripathi, and thereby enrich the philosophical side of our Hindi vangmaya. Though no writer in any language, Hindi, Marathi or English can add another hue to the rainbow-like splendour of the mystaco-philosophical ideas of Gurudeva Ranade. yet attempts like the one made by Dr. Tripathi should be having an educative value of their own. And this alone, I believe, could be enough justification in favour of Dr. Tripathi's work on the Philosphy of Prof. Ranade.

Allahabad

S. S. Roy, M.A., D. Litt.
Formerly Professor of Philosophy and
Head of the Department of Philosophy,
University of Allahabad, Allahabad.

प्रकाशक का वक्तव्य-

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रा. जयशंकर त्रिपाठी द्वारा लिखित 'भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो. रानडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध प्रबन्ध 'अॅकेडमी ऑफ् कम्पेरेटिव्ह फिलॉसफी अॅण्ड रिलीजन, बेलगाँव' द्वारा प्रकाशनार्थ हमें उपलब्ध हुआ। प्रो. बी. आर्. कुलकर्णी ने प्रो. रानडेजी के दर्शन का गहरा अध्ययन किया है। वे हिन्दी के अच्छे ज्ञाता भी हैं। इस अॅकेडमी द्वारा उक्त शोध प्रबन्ध को प्रकाशित करने के बारे में उनकी राय ले ली गई। उन्होंने उसके प्रकाशन का जोरदार समर्थन ही नहीं किया पर उसकी अनिवार्यता बताते हुए कहा कि प्रो. रानडे के दर्शन पर हिन्दी में कोई रचना नहीं है। इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन से हिन्दी भाषी लोगों के लिये इस दर्शन को जानने नया द्वार खुलेगा।

इसी दरमियान १९८६ यह वर्ष 'प्रो. रानडेजी की जन्म-शताब्दी' के रूप में मनाने का विचार हम कर रहे थे। प्रो. रानडे एक महान दार्शनिक तथा इस सदी के ख्यातनाम रहस्यवादी के रूप में सुपरिचित हैं। उनके दर्शन का, उसके स्वरूप का प्रकाशन इस सुअवसर पर होगा तो यह भी एक संकेत ही समझा जायेगा। इसीलिये इस संस्था के विश्वस्त सभासदों ने मिलकर इस प्रबन्ध को छापने तथा प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

इस प्रबन्ध के परीक्षण के लियें हिन्दी प्रूफ-रीडर को पाना बडा कठिन था। पर सुयोग से प्रा. बि. के. नाडगौडा (राणी पार्वतीदेवी कॉलेज, बेलगाँव) ने हिन्दी प्रूफ जाँचने सम्मति दे दीं। उनकी अमूल्य सेवाओं के हम ऋणी हैं।

स्वस्तिक प्रिन्टींग प्रेस ने इसकी छपाई की। उसके प्रबंधक तथा सहकारियों की सहाय्यता से इस प्रबन्ध को जल्द ही प्रकाश में लाना संभव हो सका।

इस प्रबन्ध को आपके हाथों में सुपूर्द करते हुए हमें बडी खुशी हो रही है। प्रो. एस्. एस्. रॉय तथा प्रो. रामानंद तिवारी जैसे मान्यवर विचारकों (दार्शनिकों) ने इस प्रबंध की भूरी भूरी प्रशंसा की है। हमें आशा है कि हिन्दी–भाषी लोगों के लिये प्रो. रानडेजी के दर्शन तथा रहस्यवाद की कुछ झलक दर्शाने यह प्रबन्ध जरूर सहाय्यक सिद्ध होगा।

प्राक्कथन

भारतीय रहस्यवाद आनन्दानुभूति के निमित्त अपनी विस्तृत पद्धतियों की दृष्टि से अद्वितीय है और अपने जटिल आध्यात्मिक विधानों में वह आत्मानुभूति की व्याख्या पर पूर्णतः आश्रित है। यद्यपि ज्ञान की आध्यात्मिक व्याख्या भिन्न भिन्न सम्प्रदायों अथवा दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से की है किन्तु आधारभूत अनुभव एक ही है। यह व्याख्या पाश्चात्य सन्तों एवं रहस्यवादियों से चाहे वे यहूदी, यूनानी, ईसाई अथवा यवन जो भी रहे हों भिन्न नहीं थी। यद्यपि विश्व के अन्य धर्मों में रहस्यवाद की महत्ता स्थिर नहीं है किन्तु भारत के धर्मों में यह सर्वथा मौलिक एवं स्थायी है। भारतीय दर्शन के मूल प्रेरणास्त्रोत उपनिषदों में विश्वास अथवा कर्म की अपेक्षा ज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार द्वारा मुक्ति की घोषणा की गयी है। अतएव समस्त आस्तिक दर्शनों ने उपनिषद् के इस मूल तथ्य की ही व्याख्या को अपना लक्ष्य बनाया। भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन सभी ने अपने आध्यात्मिक स्वरूप के कारण विश्व की संपूर्ण मानव जाति को एक व्यापक दृष्टि प्रदान की और वह दृष्टि थी आत्मानुभूति। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने 'दर्शन' शब्द का प्रयोग 'अन्तर्दृष्टि' के सन्दर्भ में ही किया है। उनके लिए दर्शन जीवन की एक विधा है और सत्य को पहचानने की एक अद्वितीय अन्तर्दृष्टि।

विज्ञान और दर्शन का विगत शताब्दियों में असाधारण रूप से विकास हुआ है। प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान ने अपना चमत्कार दिखाकर कतिपय भौतिक तथ्यों की व्याख्या करने का सफल प्रयास किया। मानवीय ज्ञान भी विज्ञान से अप्रभावित नहीं रहा बल्कि उसने तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसकी प्रत्येक संभावनाओं को प्रयोगात्मक रूप दिया। इसी प्रयास के सन्दर्भ में भारतीय समकालीन दर्शन ने भी अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति द्वारा तत्वमीमांसा विषयक रहस्यात्मक आवरणों को हटाकर उसे जनसामान्य के लिए ज्ञेय बना दिया। भारतीय

समकालीन दार्शनिकों की सबसे बडी विशेषता यह रही कि इन्होंने किसी धर्म अथवा सिद्धान्त की पूर्णतः उपेक्षा नहीं की बल्कि सर्व-धर्म-समन्वय की भावना से वेदान्त-धर्म को ही विश्व धर्म बनाने का अनवरत प्रयास किया। समसामयिक भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या ईश्वर के स्वरूप-ज्ञान एवं तदनन्तर उससे साक्षात्कार करने की थी। इसके निराकरण के लिए नव्यवेदान्तियोने आत्मा की अनन्त शक्ति का वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया और यह प्रमाणित कर दिया कि प्रत्येक मनुष्य आत्मसत्ता का बोध कर सकता है। वे सांसारिक आत्मा और दिव्य आत्मा में भेद प्रदर्शित करते हुए यह मानते हैं कि सांसारिक आत्मा अर्थात् जीवात्मा में दिव्यात्मा बनने की शक्ति अन्तर्निहित है। इसके लिए उन्होंने आत्मशोधन एवं परिष्कार की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार जीवात्मा जब परिष्कृत होकर दिव्यात्मा में परिवर्तित होती है तब परमतत्व की अनुभूति होती है। इसी स्तर को उन्होंने ईश्वरानुभूति, आनन्दानुभूति अथवा परमसाक्षात्कार आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया।

परमसत्ता अथवा ईश्वर साक्षात्कार की अनुभूति मानव जाति के के समस्त धर्मों की एक सामान्य विशेषता रही है। रहस्यवाद के माध्यम से यह व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत हुआ। समकालीन दर्शन के अन्तर्गत प्रो. रानडे ने इस परम्परागत रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए उसके वैज्ञानिक और तात्विक स्वरूप को एक नयी दिशा दी। उन्होंने अपने रहस्यवाद में इच्छा भावना एवं बुद्धि तीनों का समान रूप से प्रयोग किया और रहस्यवाद की पुनर्स्थापना की। इसका प्रभाव भारतीय पुनर्जागरण काल से लेकर अबतक दर्शन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में पूर्ण सक्षम रहा।

प्रो. रानडे उन संत दार्शनिकों में से प्रमुख हैं जिन्होंने वेदान्त की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर नव्यवेदान्त को आगे बढ़ाया। उपनिषद् एवं गीता का आद्योपान्त अध्ययन करने के पश्चात् उसमें निहित मूल दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने रहस्यवाद को भारतीय दर्शन का

मौलिक दर्शन माना। इस शोध प्रबन्ध द्वारा मैंने प्रो. रानडे के विचारों की पुनर्व्याख्या करते हुए इसे एकत्रित करने का प्रयास किया है! अपने इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल रहा इसका निर्णय हमारे प्रबुद्ध पाठक ही कर सकते हैं। प्रो. रानडे द्वारा संस्थापित अॅकेडमी ऑफ् कम्पेरेटिव्ह फिलासफी ॲण्ड रिलीजन द्वारा ग्रन्थ के प्रकाशित होने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं संस्थान के अध्यक्ष एवं सचिव का विशेष रूप से आभारी हूं। प्रो. बी. आर. कुलकर्णीजी का मैं विशेष ऋणी हूं क्योंकि उन्होंने शोध-प्रबन्ध में आवश्यक सुधार कर इसे प्रकाशन योग्य बनाया।

शोध प्रबन्ध की निर्देशिका सुश्री शान्ति जोशी, जिनके कुशल निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ, का मैं विशेष कृतज्ञ हूं। प्रो. शिवशंकर राय जिन्होंने शोधकार्य में विशेष रुचि लेते हुए समय समय पर सुझाव दिया, का भी मैं आभारी हूँ। ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान हरिद्वार के निर्देशक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ परमपूज्य गुरुदेव पे. श्री. रामशर्मा आचार्य का आशीर्वाद मेरे इस कार्य की पूर्णाहुति के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ। उनके श्री चरणों में बैठकर मैंने प्रो. रानडे की रहस्यवादी साधना के प्रयोगात्मक पक्ष का ज्ञान प्राप्त किया। प्रो. रामानन्द तिवारी एवं प्रो. संगम लाल पाण्डेय जी का मैं विशेष आभारी हूँ।

अन्त में मैं स्व. पूज्य पिता स्व. श्री शिवशंकर त्रिपाठी को श्रद्धांजली प्रस्तुत करता हूँ जिनके पुण्य एवं आशीर्वाद से इस शोध-साधना ने ईश्वर-साधना के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

एम् १२४ गोविन्दपुर,
इलाहाबाद

डॉ. जटाशङ्कर त्रिपाठी

श्री गुरुदेव डॉ. आर. डी. रानडे

जन्म :
जमखंडी
३–७–१८८६

समाधि :
निंबाल
६–६–१९५७

अनुक्रम

परिच्छेद	विषय	पृष्ठ
	विषय प्रवेश	१–८
१)	रानडे का जीवन एवं कृतित्व दर्शन	९–२९
२)	उपनिषद् एवं रहस्यवाद	३०–६८
३)	गीता का ईश्वरानुभूति दर्शन	६९–१०४
४)	महाराष्ट्रीय रहस्यवाद	१०५–१३५
५)	रहस्यवाद–भारतीय विचारधारा का चरमोत्कर्ष	१३६–१७७
६)	समसामयिक दर्शन में रानडे का योगदान	१७८–२२१
७)	उपसंहार	२२२–२३४
८)	सहायक ग्रंथसूची	२३५–२३९

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१७	और	ओर
१५	२३	सन· इ·	सन् १९११ ई·
१६	९	तकशास्त्र	तर्कशास्त्र
२७	५	साधनमार्ग	साधनामार्ग
३४	७	रहस्यविदा	रहस्यविद्या
३८	६	वर	पर
४०	६	मी	भी
४०	१०	की	थी
४२	१२	पौसी	जैसी
४६	९	ऋतु	ऋत्
५२	११	जारति	जागृति
७४	७	दशन	दर्शन
८२	११	सूत्रका	सूत्रकारों
८४	११	अविधा	अविद्या
८५	३	चित्	अचित्
८७	२०	तात्प	तात्पर्य
८७	२०	संबोध	संबोधि
९२	२०	अथांग	अथाह
९९	१३	विहित	निहित
१००	४	संकातिक	एकांतिक
१०२	१९	तज्जत्यन	तज्जलान

१३६	१५	की	ने
१४५	२०	प्रयास	प्रयाण
१५२	२७	परमार्ध्य	परमार्थ
१५५	२२	के माध्यम से	करते हुए
१५९	१३	औपाद्यिक	औपाधिक
१६३	१९	परमतत्म	परमतत्व
१७३	३	होता है	करता है
१९४	१८	व्यक्तिमत्व	व्यक्तित्व
२००	२	भाग	मार्ग
२०१	४	दशन	दर्शन
२०६	१५	पृष्टि	पुष्टि
२११	३	प्रयास	प्रयाग

विषय प्रवेश

शोध की दिशा एवं आयाम

मानव की जिज्ञासा अनन्त है। जगत् की अनेकानेक नैसर्गिक वस्तुओं में स्वतः विकास व सामंजस्य देखकर वह इसके मूलकारण को जानना चाहता है। अपने इस प्रयास के अन्तर्गत वह अपने चतुर्दिक् बाह्य जगत् की ओर देख सकता है, वह अपने अंतस् में निहित आत्मा की ओर देख सकता है, वह ऊपर की ओर देख सकता है जो बाह्याभ्यान्तर दोनों का समीकरण है तथा अपने को दोनों में अभिव्यक्त करता है। अपने इस प्रयास में मनुष्य अपने अंतस् में देखने के पूर्व बाहर की ओर देखता है और ऊपर की ओर देखने के पूर्व वह अपने अन्तस् की ओर देखता है। परमतत्व के ज्ञान में प्रायः सृष्टिविधान मूलक, ईश्वरशास्त्र मूलक तथा मनोविज्ञानमूलक मार्ग दार्शनिकों ने स्वीकार किया है किन्तु वे मतैक्य नहीं हैं। फलतः भारतीय दर्शन में अनेक सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी दार्शनिक कसौटी से परमतत्व के ज्ञान की परख की। कतिपय सम्प्रदायों ने परमतत्व का भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। पुरुष की सरल कल्पना शक्ति के लिए नैसर्गिक शक्तियों को परमसत्य मान लेना स्वाभाविक है किन्तु घटनाओं के गम्भीर विचार और सूक्ष्म अंतर्दर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक शक्तियाँ परमसत्य नहीं मानी जा सकतीं।

भारतीय दार्शनिकों ने प्रायः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परमसत्ता का स्वरूप निःसृत कर प्रज्ञा की अनंत शक्ति को स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन के अंतर्गत अध्यात्म विद्या और स्वानुभूति का सर्वोत्कृष्ट स्थान रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अध्यात्म विद्या को सभी विद्याओं से श्रेष्ठ कहा है। [1] यद्यपि अध्यात्म को अमूर्त माना

---

1 गीता. 10/32

जाता है तथापि भारतीय दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने इसे दर्शन का विषय माना है। उन्होंने 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' कहकर दर्शनशास्त्र की परिभाषा को प्रस्तुत किया। उपनिषदों में भी ज्ञान के साधन रूप में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] यह ज्ञान एक मात्र विवेचना का विषय न मानकर उसे अनुभूति से भी सम्बद्ध करता है। एक ओर जहाँ दर्शन का विषय अध्यात्म की ओर उन्मुख होना है वहीं दूसरी ओर उसे तत्व-ज्ञान का साधन भी जाना जाता है। इसीलिए भारतीय दर्शन के अंतर्गत दर्शन शब्द का अर्थ कोई सम्प्रदाय विशेष या ग्रंथ विशेष नहीं माना गया। इसके अन्तर्गत दर्शन जीवन की एक विधा है; सत्य को पहचानने की एक अंतर्दृष्टि है।

जीवन की सर्वोत्कृष्ट कला का नाम दर्शन है, जो जीवन एवं तत्संबंधी तथ्योंका चिंतन एवं अनुभूति है। समस्त भारतीय दार्शनिकोंने दर्शन के इसी अर्थ को ग्रहण किया है तथा इसी के परिप्रेक्ष्य में अपनी कला का प्रदर्शन किया है। यह कला उसे वस्तुवादिता की स्थूल भावभूमि से उठाकर आध्यात्मिक चिंतन के उस स्तर पर पहुँचा देती है, जहाँ उसे अपने अस्तित्व और अपने जीवन की एक नयी विधा प्राप्त होती है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत इसकी दो प्रवृत्तियां स्वीकृत हैं। पहली बौद्धिक और दूसरी अनुभूतिपरक। खण्डनात्मक प्रवृत्ति सापेक्ष, ग्राह्य एवं सविकल्पक है। इसे साधारण भाषा में बुद्धि, मति, युक्ति, तर्क आदि के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इसका कार्य यह संकेत प्रस्तुत करना है कि जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ सत्, असत् और सदसत् विलक्षण होने के कारण मिथ्या है। समन्वयात्मक प्रवृत्ति निरपेक्ष, निर्विकल्पक और प्रपंचशून्य है। इसे हम विशुद्ध ज्ञान, प्रज्ञा या स्वानुभूति कह सकते हैं।

भारतीय समसामयिक दार्शनिकों तथा चितकोंनें दर्शन के माध्यम से जीवन के रहस्यों एवं इसकी चरम उपलब्धि अर्थात् परमतत्व के साक्षात्कार को तार्किक विश्लेषण द्वारा समझाया तथा उस रहस्यानुभूति

2–बृहदारण्यक, उपनिषद् 2/4/5

को धर्म के माध्यम से भी अभिव्यक्त किया। अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करना किसी तर्कनिष्ठ प्रणाली के लिए संभव नहीं। इसके लिए एक आध्यात्मिक चिन्तन की आवश्यकता है जिसके द्वारा यह तथ्य स्वतः प्रामाण्य के रूप में प्रस्तुत हो सके। धर्म इसके लिए तात्कालिक अनुभूति उपस्थित करता है। इस प्रस्तुतीकरण का माध्यम है रहस्यवाद। धर्म का शाब्दिक अर्थ विन्यास इसे और अधिक स्पष्ट कर देता है। धर्म की निष्पत्ति 'धृ' धातुसे हुई तात्पर्य है धारण करना। इसका आशय उस विश्वास अथवा आस्था से है जो व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या व्यक्तित्व को धारण करें।

वस्तुतः दर्शन के साथ ही धर्म भी सत्यानुभूति का सशक्त माध्यम माना जाता है। भारत में तो दर्शन एवं धर्म परस्पर समन्वित होकर सत्यान्वेषण एवं साक्षात्कार के लिए प्रवृत्त होते हैं। बिना धार्मिक अनुभूति के दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। दोनोंके परस्पर सम्बन्ध का निरूपण अंधे एवं लंगडे के परस्पर सहयोग द्वारा जंगल से बाहर निकलने जैसा है। धर्म अनुभूति की तात्कालिक उपलब्धि का सशक्त माध्यम है जब कि दर्शन शास्त्र में ऐसी अनुभूति का अभाव है।

भारतीय दर्शन के अंतर्गत दर्शन एवं धर्म का समन्वित प्रयास वेदांत से ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु समकालीन दार्शनिकों ने इस समन्वय को और अधिक सुदृढ़ किया। वेदों और उपनिषदों में ऋषियों और महर्षियों की दिव्य दृष्टि द्वारा परमतत्व का वर्णन मिलता है। वह जनसाधारण के लिए ग्राह्य नहीं है। अतः रानडे ने दर्शन एवं धर्म से समन्वित इस प्रयास की अभिव्यक्ति रहस्यवाद के माध्यम से प्रस्तुत की। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने हिन्दी के सन्तों एवं मध्ययुगीन महाराष्ट्रीय सन्तों की अनुभूतियों का अध्ययन किया। सन्तों के चिन्तन एवं उपदेश में उक्त दोनों पक्ष अर्थात् दर्शन और धर्म का समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। रानडे की सबसे बडी विशिष्टता है कि वे जिस तथ्य का कथन प्रस्तुत करते हैं उसकी अनुभूति द्वारा प्रामाणिकता की जांच

भी उसी समय करते चलते हैं। उन्होंने सत्यान्वेषण के इस मार्ग को अधिक पुष्ट एवं स्वतः प्रमाणित माना।

उपर्युक्त विशिष्ट विधा की आवश्यकता के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में दर्शन शब्द का प्रयोग तत्त्वदृष्टि या तत्त्व-साक्षात्कार के लिए ही नहीं हुआ वरन् तत्व साक्षात्कार किन साधनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है. उनके लिए भी दर्शन शब्द का प्रयोग हुआ है। आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक क्लेशों से छुटकारा पाने के साधन को ढूंढता हुआ साधक आचार्य के पास जाता है और उनसे दुःख से मुक्ति का उपाय पूछता है। आचार्य उसे 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'[3] अर्थात् आत्मा को देखो- उसी से दुःख की निवृत्ति होगी, का उपदेश देता है। इस आत्म साक्षात्कार के लिए श्रोतव्यों, मन्तव्यों, निदिध्यासितव्यः[4] अर्थात् श्रवण करो, मनन करो, और निदिध्यासन करो, की भी व्यवस्था दृष्टिगत होती है। ये तीनों तत्त्व साक्षात्कार के साधन हैं।

इससे सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न उठता है कि इन तीनों साधनों द्वारा क्या देखा जाय अथवा किसका दर्शन किया जाय? प्रश्नोत्तर में यह उपलब्ध होता है कि तत्व के स्वाभाविक स्वरूप का दर्शन किया जाय। यह साधारण दृष्टि से वोधगम्य नहीं है। तत् सर्वनाम है और सर्वब्रह्म है। उसके भाव को अर्थात् स्वरूप को तत्त्व कहते हैं। इसी तत्त्व या ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही दर्शन कहा जाता है।

भारतीय दार्शनिकों ने विभिन्न मार्गों से इस तत्त्व का दर्शन किया। प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने जिस मार्ग द्वारा इस तत्त्व का दर्शन अथवा साक्षात्कार किया, वह मार्ग रहस्यवादी मार्ग है। यह कोई नवीन मार्ग नहीं है वल्कि यह वेद एवं उपनिषद् का ही वह वीज है जो कालक्रम में अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता रहा। इस संदर्भ में रानडे ने अपने उपनिषदीय अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि आत्मज्ञान ही

3–बृहदारण्यक 2/4/4. 4–वहीं 2/4/4

पूर्णतत्व मीमांसा का निर्धारण करता है। उपनिषदों में आत्मा को परमोत्कृष्ट सत्ता का स्तर प्रदान किया गया है और इसके ज्ञान के लिए परा विद्या को ही सर्वथा प्रामाणिकता प्रदान की गयी है। रानडे ने इसे '' आत्मानुभूति '' नाम से अभिहित किया, आत्मानुभूति के स्वरूप एवं लक्ष्य निर्धारण के विषय में रानडे का कथन है, '' अनुभूति की चरम सीमा पर योगी अपने अन्तस् से विस्फुरित होने वाले परमतेज के प्रवाह में आत्मस्वरूप का दर्शन करता है, जो वस्तुतः अमृत और अभय आत्मा का साक्षात्कार है। '' [5]

वास्तव में रहस्यवाद आत्मा का दर्शन है। यह परमतत्त्व की मौन आनन्दानुभूति है। रहस्यवाद एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है ; यह कोई घटना नहीं है। रानडे तो इसे ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करने का माध्यम[6] मानते हैं। रानडे ईश्वर के दर्शन और साक्षात्कार में भेद नहीं स्वीकार करते। ईश्वर के दर्शन अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के बिना आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और निरतिशय आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं।

प्रश्न उठता है कि आत्मानुभूति कैसे संभव है तथा यह क्या यह ज्ञान से भिन्न तत्व है ? आत्मानुभूति जैसा कि शाब्दिक अर्थ बिन्यास से ही ध्वनित होता है, केवल अनुभूति द्वारा साक्षात्कार की सतत् प्रक्रिया है। मानवीय बुद्धि के सविकल्पक होने के कारण स्वानुभूति को इससे भिन्न कहा जा सकता है। उपनिषदो में यह संकेत उपलब्ध होता हैं कि यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृत रूप से सन्निहित है वह सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं है, केवल सूक्ष्म दर्शी ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

रानडे ने अपने रहस्यवाद में यह निर्धारित करने का प्रयास किया है कि ईश्वरानुभूति कोई बाह्य घटना अथवा बाह्यवस्तु की उपलब्धि नहीं है। यह आत्मा द्वारा ही आत्मा को जानने की सतत् प्रक्रिया है। आत्म-

---

5–रानडे: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 225

6–रानडे: मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र: भूमिका 24–25

ज्ञान द्वारा आत्मरूप ईश्वर का दर्शन उसी प्रकार संभव बताया गया है जिस प्रकार आँख में लगे काजल को देखने के लिए आंख की ही सहायता ली जाती है। यहाँ दार्शनिक का कार्य कुछ कुछ कलाकार के कार्य के समान है जो अपने विषय के साथ तादात्म्य कर लेता है। वास्तविक ज्ञान तो एक विलक्षण अनुभव में ही प्राप्त होता है। रहस्यवाद ऐसा ही विलक्षण अनुभव प्रस्तुत करता है। रानडे के अनुसार रहस्यवाद को पूर्णतयः समझने के लिए व्यक्ति को रहस्यवादी बनना पड़ता है। इसीलिए वे अपने को दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक पसन्द करते थे।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत रानडे के दार्शनिक योगदान का अध्ययन दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम रानडे कृत वेदान्त की पुनर्व्याख्या का वैज्ञानिक अध्ययन और द्वितीय प्रमुख भारतीय संतों के तात्विक विचारोंका दार्शनिक गवेषणात्मक अध्ययन। इन दोनों प्रकार के अध्ययनों को भारतीय समकालीन दर्शन में महती आवश्यक थी। प्रथम पक्ष अर्थात् वेदान्त की पुनर्व्याख्या अन्य भारतीय समकालीन दार्शनिकों अर्थात् श्री अरविन्द, डा. राधाकृष्णन् एवं विवेकानन्द आदि ने प्रस्तुत की है किन्तु द्वितीय पक्ष अर्थात् संतों की अनुभूतियों का तत्वमीमांसा-परक अध्ययन सर्वथा अछूता था। वास्तव में द्वितीय पक्ष में ही भारतीय दर्शन की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता अर्थात् आध्यात्मिकता निहित है। इस कार्य को रानडे ने 'पाथ वे टु गाड इन् हिन्दी' और 'पाथ वे टु गाड इन् कन्नड़ लिटरेचर' द्वारा विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया।

द्वितीय अध्ययन के अन्तर्गत रानडे भारतीय संतों के रहस्यवादी विचारों का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारतीय संतो की अनुभूतियों में ईश्वर-साक्षात्कार का सर्वसुलभ मार्ग निहित है। उन्होंने जिस लक्ष्य की प्राप्ति की है वह ईश्वरानुभूति है। इसके लिए उन्होंने किसी प्रकार के तत्वमीमांसीय ज्ञान तथा उसके विश्लेषण की आवश्यकता नहीं समझी। वस्तुतः धार्मिक दृष्टिकोण से मानवीय चेतना में निहित उच्चस्तरीय भावनाओं द्वारा ही संतों ने ईश्वरानुभूति को संभव

बताया । इसे उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूति, ईश्वरानुभूति, रहस्यानुभूति, आत्मानुभूति आदि नामों में अभिहित किया ।

रानडे के अनुसार उपर्युक्त अनुभूतियों को संतों ने किसी बाह्य घटना के रूप में अथवा बाह्य प्रयोजन के लिए नहीं प्रस्तुत किया बल्कि आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से ईश्वर साक्षात्कार करने के संदर्भ में ही अपनी अनुभूतियों को उपदेशों एवं गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया । यह मार्ग रहस्यवादी मार्ग था । इस मार्ग को सुस्पष्ट करने के लिए रानडे ने कबीर, सूर, तुलसी एवं मध्यकालीन महाराष्ट्रीय संतों के उपदेशों का अध्ययन किया तथा उन्हें दार्शनिक पृष्ठभूमि पर लाकर तत्वज्ञान के लिए उपयुक्त पाया । रानडे ने उपर्युक्त संतों के पदों व उपदेशों को अपनी महानतम कृतियों में प्रस्तुत करते हुए संतों के विचारों को स्पष्ट किया जो वास्तव में तत्व मीमांसा व नीतिमीमांसा सभी के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण मार्ग सिद्ध हुआ ।

यह स्पष्ट कर देना भी शोध प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकार रहस्यवादी सिद्धान्त आत्मा आत्मानुभूति की साधना की ओर अभिमुख है । यहां पर रहस्यात्मक अनुभूति का अर्थ निरूपण अथवा प्रकृति की विवेचना मात्र नहीं प्रदर्शित की गयी है बल्कि अद्वैतवाद के साथ रहस्यात्मक अनुभूति का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है । रानडे ने अपने दार्शनिक योगदान के सन्दर्भ में रहस्यात्मक अनुभूति की सर्वोत्कृष्टता प्रस्तुत करते हुए कहा है, रहस्यात्मक आत्मानुभूति के लिए एक निश्चित दार्शनिक (तात्विक) आधार का निर्धारण भावी दर्शन शास्त्र के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न होगा । तर्कमूलक अनुभूति शास्त्र जो अबतक शाब्दिक प्रतिविरोध समझा जाता था अब अपने सत्य को प्रमाणित कर देगा । [7]

रानडे के सम्बन्ध में एक धारणा यह है कि वे सही अर्थों में दार्शनिक नहीं हैं क्योंकि वे भक्ति के भावुक आग्रहों से बंधे हैं । पहले के

7–रानडे: उपनिषदीय दर्शन का रचनात्मक सर्वे. (भूमिका) अनु. रामानंद तिवारी पृ. सं. xi

प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि तथ्यों का गुणा भाग करने वाला, भावना शून्य बुद्धिवादी ही दार्शनिक होता है। दर्शन तो अनुभूति का विज्ञान है, कोरी अनुमान प्रक्रिया नहीं है। चूँकि रहस्यवाद में दर्शन एवं धर्म का अपूर्व समन्वय निहित है तथा रहस्यवाद ईश्वर के तात्कालिक अनुभूति के संदर्भ में अधिक सशक्त है अतः उन्होंने दर्शन की अपेक्षा रहस्यवाद को ईश्वरानुभूति के लिये उपर्युक्त समझा।

प्रथम परिच्छेद

रानडे का जीवन एवं कृतित्व–दर्शन

भारतीय दर्शन की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता इसकी आध्यात्मिकता है। वेद एवं उपनिषद्-दर्शन इसका विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय दर्शन के अंतर्गत वेद एवं उपनिषद्-दर्शन की व्याख्या के रूप में वेदांत-दर्शन की निष्पत्ति हुई। वैसे तो भारत के सभी दर्शन चार्वाक को छोड़कर, प्रकारान्तर से वेद एवं उपनिषद्-दर्शन से ही निःसृत हैं, किंतु वेदान्त दर्शन के अंतर्गत वैदिक एं औपनिषदिक् तथ्यों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। वेदांत दर्शन के अंतर्गत मुख्यतः अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं द्वैताद्वैतादि विभिन्न मतों का प्रतिपादन हुआ है। भारतीय पुनर्जागरण काल में इन वेदान्त दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव समकालीन भारतीय चिन्तकों पर विशेष रूप से पड़ा। परिणामस्वरूप वेदान्त-दर्शन की पुनर्व्याख्या के रूप में ''नव्यवेदान्त'' की धारा प्रस्फुटित हुई। इस दार्शनिक विचार-प्रवाह में भारत के सुप्रसिद्ध मनीषी स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद घोष, डा. राधाकृष्णन् एवं प्रो. रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त सभी नव्य वेदांती आपस में स्वाभाविक विभिन्नतायें रखते हुए भी अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय ज्ञान-भंडार के विशिष्ट व्याख्याता रहे हैं। इन्होंने विभिन्न दर्शनों एवं धर्मों में निहित मूलगत सत्यों के प्रकाश में अपने-अपने सिद्धान्तों की उपादेयता ग्रहण की। वैसे दर्शन के इतिहास में परमसत्ता के स्वरूप–ज्ञान अथवा साक्षात्कार के संदर्भ में मुख्यतः दो मार्ग अपनाये गये। प्रथम बौद्धिक अथवा तार्किक और द्वितीय आत्मानुभूति परक। भारतीय षड्दर्शन में तर्क को प्राधान्य था। एक दूसरे के खंडन के द्वारा अपने-अपने दर्शन की

स्थापना, दार्शनिकों का कर्तव्य सा हो गया था। " तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते[1]" की उद्घोषणा से सम्पूर्ण आस्तिकवादी दर्शन ओतप्रोत था। वेदान्त-दर्शन में भी इस परम्परा का निर्वाह हुआ। परिणास्वरूप इस प्रणाली ने आध्यात्मिक चिंतन को प्रश्रय दिया। समसामयिक दार्शनिकों ने बौद्धिक विश्लेषण अथवा तर्क की अपूर्वशक्ति को स्वीकार करते हुए इससे भी उत्कृष्ट ज्ञान का साधन "अपरोक्षानुभूति" का वरण किया। इसी अभाव की पूर्ति के लिए रहस्यवादी दार्शनिकों ने " आत्मानुभूति " का आश्रय लिया।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार किसी भी व्यक्ति का दर्शन उसकी चेतना के विकास के सापेक्ष होता है। विश्व के सारभूत तत्वों का साक्षात्कार रहस्यवादियों की पूर्णतः विकसित चेतना एवं अनुभूतियों में होता है। चेतना का यह विकास उनके आध्यात्मिक साधन का परिणाम होता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार दार्शनिकों को विचारक और साधक दोनों होना चाहिए। रानडे इसी परम्परा के पोषक थे। उन्होंने गहन अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कार के सर्वसुलभ मार्ग का प्रणयन कर वेद एवं उपनिषद् दर्शन में निहित रहस्यवादी विचारों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। रानडे ने परमसत्य के साधनभूत बुद्धि की अपेक्षा आत्मा की अनन्त शक्ति को अधिक सक्षम पाया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि रहस्यानुभूति के बिना परमतत्व का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष अन्तर्दर्शन नहीं हो सकता। वस्तुतः रानडे का दर्शन आत्मानुभूति का दर्शन है जिसमें उनकी अन्तिम आस्था " अपरोक्षानुभूति " में थी। उन्होंने अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्मा का ज्ञान संभव मानकर, ईश्वर साक्षात्कार के लिए उपयुक्त मार्ग का निर्देशन किया। रानडे की सबसे बडी विशेषता है कि वे जिस तथ्य का मौन आनन्दानुभव करते थे, उसी को दार्शनिक रूप भी दे देते थे। उनके अनुसार तत्वदर्शन मात्र दर्शन है। जबकि रहस्यवाद दर्शन के अतिरिक्त स्पर्शन्, श्रवण, संभाषण, घ्राण और रसन् भी है, इस आत्मानुभूति प्रक्रिया द्वारा ही रहस्यवादी को तत्व का अन्तर्दर्शन होता

---

1 – ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2/1/11/3

है । " स्वानुभूति " द्वारा सिद्ध तत्वज्ञान दर्शन के द्वारा प्रपंचित नहीं किया जा सकता, अतः यह प्रक्रिया अपने आप में स्वतः सिद्ध है। इसके लिए किसी प्रमाण विशेष की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए साधक की स्वानुभुति ही पर्याप्त है। रानडे ने रहस्यवाद की इस प्रक्रिया को इतना प्रभावकारी पाया कि इसका प्रयोग उन्होंने तत्वमीमांसा, नीतिमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा के क्षेत्रों में समान रूप से किया। डा. राधाकृष्णन् ने उनके रहस्यवाद के विषय में कहा है कि " उनके लिए यह आत्मानुचिंतन एक समर्पित जीवन का मार्ग है "।

रानडे ने रहस्यवाद को ईश्वरानुभूति के संदर्भ में उपयुक्त मानने के साथ ही इसे पाश्चात्य दर्शन से सामन्जस्य स्थापित करने का माध्यम बनाया। चूंकि रहस्यवाद में अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान का उदय होता है, अतः उनकी मान्यता है कि जो कुछ भी हम समझते हैं अथवा जिस की हमें अनुभूति होती है, केवल ये ही हमारे दर्शन का निर्माण करते हैं। " [2]

रानडे का आत्मा की अनन्त शक्ति में दृढ़ विश्वास था। अतः उन्होंने आजीवन आत्मानुभूतिवादी दर्शन को प्रस्तुत करने की चेष्टा की। वे अपने को दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक पसन्द करते थे क्योंकि रहस्यवाद उन्हें अधिक व्यापक एवं सप्रमाण प्रतीत हुआ।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी रानडे का दर्शन रहस्यवादी तत्वदर्शन है। रहस्यवाद को तत्वज्ञान की प्राप्ति में वे अधिक सशक्त मानते हैं। उनका कथन है, " किसी तत्वदार्शनिक सिद्धान्त की सच्चाई और प्रबलता का मानदण्ड यह है कि उसमें जीवन को कितना दिव्य और इस प्रकार कितना निर्वाह योग्य बनाने की शक्ति है।" [3]

2– रानडे :– भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन पृ. सं. 191

3– रानडे :– उपविषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण अनु. रामानंद तिवारी पृ. सं. 415

रानडे ने महाराष्ट्र की महान् सन्त-परम्परा को अपने ग्रन्थों एवं साधना के पावन अनुष्ठान द्वारा परिष्कृत किया। अतः इन्हें आधुनिक युग का महान् रहस्यवादी कहा जा सकता है। रानडे ने अद्वैत वेदान्त के समर्थन में रहस्यवादी प्रवृत्ति की स्थापना जिस सहज एवं सरल मार्ग द्वारा की, वह इनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों के द्वारा सर्वथा अछूती थी और यदि किसी ने प्रयास भी किया तो वह इसे इतनी गहराई तक न ले जा सका।

प्रो. रानडे का जन्म ३ जुलाई सन् १८८६ ई. को जमखंडी के के एक तत्वशील कुल में हुआ था। इनकी मां पार्वती देवी ने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से जमखंडी के पास स्थित रामेश्वर की सेवा की और उनकी सेवा सफल होकर मानों रामेश्वर के वरद्पुत्र राम ही जन्म लेकर कर्नाटक प्रदेश के बीजापुर जिले में जमखंडी की पावन-भूमि पर अवतीर्ण हुए। माता की आध्यात्मिक संरक्षतामें बालक का उत्तरोत्तर पथ-प्रदर्शन हुआ। नन्देश्वर मंदिर के प्रमुख स्वामीजी ने रानडे को सदाचार एवं उन्नति पथ पर अग्रसित किया। इनकी माता भाव विभोर होकर प्रायः कह उठती थी कि " मेरे प्रिय सुम वास्तव में मेरी गोद में एक संत के रूप में पैदा हुए हो "।

रानडे के पिता श्री दत्तोपन्त ने स्वामी जी से ही बालक का नामकरण करवाया। रामेश्वर जी की कृपा होने के कारण इनका नाम रामचन्द्र रखा गया। बचपन में मां-बाप इन्हें प्यार में 'रामभाऊ' कह कर पुकारा करते थे। आरम्भ से ही रामभाऊ में प्रबल आध्यात्मिक संभावनायें प्रकट होने लगीं। बाल्यकाल में जब वे कभी कोई तुलसी का पौधा, बेल का वृक्ष अथवा गाय देखते थे, तो उसे ईश्वरत्व का प्रतीक समझकर सिर झुकाया करते थे।

इनकी शिक्षा का श्री गणेश जमखंडी में ही स्थित प्राइमरी स्कूल से हुआ। प्राइमरी की शिक्षा प्राप्त करने के बाद बड़ी बहिन एवं माता जी की संरक्षता में इन्होंने परशुराम भाऊ हाईस्कूल में प्रवेश लिया। जब वे मैट्रिक के पूर्व की कक्षाओं के विद्यार्थी थे, तभी इन्हें कई बार लोगों ने

कक्षा से बाहर पहाड़ियों को एकाग्रचित्त होकर देखते हुए पाया। अतः इस बालक को सन् 1901 में बैकुण्ठ चतुर्दशी के दिन पन्द्रह वर्ष की आयु में ही समर्थ भाऊ साहब महाराज उमादीने ईश्वर नाम का 'नामस्मरण' मन्त्र देकर परमार्थ पथ पर अग्रसित होने के लिए दीक्षित कर लिया। विद्यार्थी जीवन में रानडे बहुत ही योग्य एवं मेधावी छात्र रहे हैं। इन्हें प्रथम शंकर सेठ छात्रवृत्ति मैट्रिक के उपरान्त मिली थी और मैट्रिक की परीक्षा में इनका दूसरा स्थान रहा। इस सफलता के बाद गुरु के सीधे सम्पर्क में आ जाने क कारण इनकी गुरु-भक्ति दृढ़तर हो गयी और साधना गम्भीरतर। मैट्रिक उत्तीर्ण होने के पश्चात् आगे की शिक्षा के लिए इनका नाम डेक्कन कालेज पूना में लिखवाया गया। यहां आकर इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन को अधिक सफल बनाने की चेष्टा की और इन्हें इसमें अपूर्व- सफलता मिली। रानडे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के छात्र थे। इनके अंग्रेजी के एक प्राध्यापक का कहना था कि "यह एक मेधावी छात्र हैं, और इनका उत्तर मौलिक एवं अनुकरणीय है। नियमतः इसीलिए इन्हें सर्वाधिक अंक मिलते हैं। यहीं से रानडे ने इंटर की प्रथम और द्वितीय वर्ष की दोनों परीक्षायें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। बी. ए. में इन्होंने गणित विषय लेकर उच्च सफलता प्राप्त की। इसी बीच एक लम्बी और बीमारी इनके पोस्टग्रेजुएट अध्ययन में बाधक बन गयी। इससे अप्रतिहत रामभाऊ ने अपने जीवन को एक नयी दिशा में मोड़ दिया और अपने गुरु पर अविचल श्रद्धा रखकर सतत् गम्भीरतम साधना में लीन रहने लगे।

सन् 1913 ई. में रानडे डेक्कन कालेज में संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट के क्यूरेटर के रूप में नियुक्त हुए, किन्तु इसे कुछ कारण वश उपयुक्त नहीं समझा। अतः उन्होंने पुनः डेक्कन एजूकेशन सोसायटी में प्रवेश लिया और 1914 ई. में इसके आजीवन सदस्य बन गये। इसी वर्ष इन्होंने दर्शन विषय लेकर एम. ए. की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर प्रथम स्थान अर्जित किया। इस पर इन्हें चांसलर का स्वर्णपदक व के. टी. तेलंग पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् रानडे दर्शन के प्रोफेसर के रूप में फर्गुसा कालेज में ही नियुक्त हो गये और दस

वर्ष तक उक्त पद पर बने रहे। इसी बीच सन् 1920 ई. में इन्हें पुनः गम्भीर बीमारी का सामना करना पड़ा।

सन् 1926 ई. में रानडे की पुस्तक " ए कन्स्ट्रक्तिव सर्वे ऑफ् उपनिषदिक् फिलासफी "[4] अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ के माध्यम से रानडे को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। इसी ग्रन्थ के प्रभाव से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डा. गंगानाथ झा के मन में रानडे के प्रति श्रद्धा भाव जागृत हुआ। परिणामतः उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष के पद के लिए इन्हें आमंत्रित किया। यद्यपि यह पद सम्माननीय होने के साथ ही आर्थिक दृष्टिकोण से भी उपयुक्त था, तथापि रानडे ने इलाहावाद की जलवायु को शारीरिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उपयुक्त समझने के पश्चात् ही अपनी स्वीकृति प्रदान की। बाद में रानडे ने कुछ समय के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद को भी सम्मानित किया। अवकाश प्राप्त होने पर विश्वविद्यालय के " एमिरेट्स प्रोफेसर " के सम्मान से विभूषित किये गये तथा यहीं से डी. लिट. की उपाधि भी इन्हें ससम्मान प्रदान की गयी।

सन् 1946 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्त होकर रानडे निम्बाल चले गये और वहीं पर एक छोटे से आश्रम में रहने लगे। वहां पर कर्नाटक प्रदेश महाराष्ट्र व इलाहाबाद से सैकडों लोग प्रतिदिन इनसे मिलने के लिए आया करते थे। इसी बीच वे पुनः अस्वस्थ हुए। अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए किसी प्रकार की औषधि का सेवन स्वीकार नहीं किया, सिर्फ गंगाजल का सेवन करके इन्होंने आरोग्य की कामना की। जीवन के अन्तिम चार दिनों में इन्होंने अन्नजल दोनों का परित्याग कर दिया। फिर भी अन्त तक पूर्णतः स्वस्थ व जाग्रत रहे। दिनांक 6 जून 1956 ई. को अपने हाथों जितना देवकार्य

4- प्रकाशक, भारतीय विद्याभवन बम्बई, 1926, पृ. सं. 338

सम्भव था सम्पन्न करके शांतचित्त से ध्यानमग्न अवस्था में निम्बाल में ही शरीर का परित्याग कर महासमाधि प्राप्त की।

रानडे की दार्शनिक एवं रहस्यवादी प्रवृत्ति का ज्ञान उनके इस कथन से होता जिसमें उन्होंने कहा है, '' प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक जीवन मेरा लक्ष्य रहा है, आशा है यही उपसंहार भी होगा।''[5] रानडे का बचपन ही ऐसे आध्यात्मिक वातावरण में व्यतीत हुआ जिसमें दार्शनिक संभावनायें स्वयं इनके मन में जाग्रत हुईं। इस जागृति का क्रमशः विकास उन्हें रहस्यवाद की गहनतम अनुभूतियों तक ले गया। अपने विद्यार्थी जीवन में ही रानडे ने विवेकानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसे चिन्तकों के विचारों को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। प्राइमरी के अध्ययन के पश्चात् इन्होंने तुकाराम, ज्ञानदेव, नामदेव व रामदास आदि उच्चकोटि के संतों के ग्रन्थों एवं उपदेशों को पढ़ा। इस अध्ययन का प्रभाव रानडे के मन पर इतना प्रभावकारी सिद्ध हुआ कि वे आजीवन संत बनने का ही प्रयास करते रहे। इन संतों की वाणियों को ईश्वरीय संदेश के रूप में स्वीकार किया और स्वयं भी उच्चकोटि की साधना को अपनाकर परम् साक्षात्कार की ओर उन्मुख हुए। रानडे अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का श्रेय वैदिक एवं औपनिषदिक् ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मन्त्रों एवं ऋचाओं को देते हैं। इनमें वे रहस्यवाद के बीज पूर्वनिहित मानते हैं।

वस्तुतः रानडे की दार्शनिक प्रवृत्ति का अभ्युदय बी. ए. उत्तीर्ण करने के पश्चात् हुआ। बी. ए की परीक्षा में उन्होंने गणित विषय का चयन किया था परन्तु एम. ए. की परीक्षा ''दर्शन'' विषय से उत्तीर्ण की। सन् ई. से सन् 1913 ई. के बीच इन्हे आध्यात्मिक जागृति का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम इन्हें ग्रीक दर्शन ने प्रभावित किया तत्पश्चात् भारतीय दर्शन के अध्ययन का अवसर मिला। अपने इस अध्ययन के प्रति रानडे ने स्वयं कहा है कि '' मेरे भारतीय दर्शन के प्रतिवर्तन से मुझे यूरोपीय दर्शन के अध्ययन का अवसर मिला।'' यह

5– कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी. राधाकृष्णन् पृ सं. 545।

अध्ययन इन्होंने 1930 ई. से प्रारम्भ किया था। इसी बीच रानडे ने प्रचलित दर्शन सम्प्रदायों का अध्ययन किया। बी. ए. उत्तीर्ण करने के पश्चात् रानडे ने दर्शन एवं धर्म धर्म से अभिप्रेरित आध्यात्मिक वातावरण में ही कार्य करने का दृढ़ निश्चय किया। उनका कथन है, " मैंने अपनी श्रद्धा को बौद्धिक समर्थन प्राप्त करने के लिए दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया।"[6]

रानडे के विद्यार्थी काल में बम्बई विश्व विद्यालय की शिक्षण संस्थाओं में दर्शन का जो पाठ्यक्रम निश्चित था, उसके अन्तर्गत मिल का तकशाश्त्र, अरस्तू का नीतिदर्शन और काण्ट एवं मार्टिन्यू का नीति सिद्धान्त प्रमुख था। रानडे पर अरस्तू के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन का विशेष प्रभाव पड़ा। वैसे तो उन पर सम्पूर्ण ग्रीक दर्शन का प्रभाव था किन्तु मुख्यतः वे हेराक्लाट्स के रहस्यवादी मत व प्लेटों के सिद्धान्त से प्रभावित हुए।

रानडे ने अपनी तीस वर्ष की अल्पायु में ही विश्व के विभिन्न दर्शनों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया, किन्तु यह ज्ञानार्जन उन्हें गुरु की कृपा से ही सम्भव हो सका और वैसे अपनी दर्शन पद्धति का शुभारम्भ उन्होंने उपनिषदों के गुह्य मन्त्रों के सम्यक् अध्ययन से किया। उन्होंने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है, " भारतीय दर्शन की सभी परवर्ती पद्धतियों का मूल उपनिषदों में ही पाया जाता है।"[7]

रानडे का बचपन से ही ईश्वर के प्रति प्रबल अनुराग था। फलतः आजीवन उन्होंने इस मार्ग का अनुकरण किया जो ईश्वर के साक्षात्कार का सर्व सुलभ व प्रामाणिक निर्देश देता है। अपनी साधना के काल एवं आध्यात्मिक अनुभव के समय रानडे को कुछ ऐसे अनुभव हुए जो एकदम अनोखे थे, जैसे अनाहतनाद का श्रवण अप्रकाशित प्रकाश का दर्शन

6- राधाकृष्णन : कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी पृ सं. 545।

7- रानडे:, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण: भूमिका पृ 111

आदि। रानडे ने इन क्रियाओं को सदैव ईश्वरीय अनुकम्पा से ही अभिप्रेरित समझा तथा सतत् साधनामार्ग पर ऐसे ही अनेक अनुभव वे प्राप्त करते रहे।

रानडे ने अपने दीर्घ दार्शनिक जीवन की ओर संकेत करते हुए और अपनी प्रबल दार्शनिक अभिरुचि के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है, ''मैंने अपने जीवन के चालीस वर्ष ईश्वर की समस्या के प्रसंग में समकालीन दृष्टिकोण को लेकर भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में निहित विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा और कर्नाटक रहस्यवाद, हिन्दी रहस्यवाद और महाराष्ट्रीय रहस्यवाद आदि द्वारा वक्तव्य देते हुए बिता दिये।''[8]

रानडे में दार्शनिक अभिरुचि के साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी पूर्ण समावेश था। वे अपने खाली समय में अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा उसकी सत्यता का परीक्षण करते थे। रानडे को अपने विचारों को व्यक्त करते समय जब किसी उद्देश्य विशेष के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिलता था तो वे तुरन्त एक नये शब्द द्वारा इस अभाव की पूर्ति कर बैठते थे जो उनके रहस्यात्मक अर्थ को प्रकट कर देता था। उदाहरणार्थ दैवीय प्रकाश के अंश को वे 'बिन्दु' कहा करते थे। इसी प्रकार के अनेक मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञनिक प्रयोग रानडे के जीवन एवं दर्शन से सम्बद्ध हैं। श्री. पी. सी. केलकर का रानडे के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति कथन है, '' अपने मन में आध्यात्मिक और धार्मिक झुकाव रखते हुए वे प्रत्येक प्रयोग के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञान ईश्वर की शक्ति का प्रमाण है।''[9]

रहस्यवादी प्रमाणवाद :– रहस्यवादी दर्शन के प्रणयन में रानडे ने धर्म एवं दर्शन के मूल तत्वों की प्रामाणिकता की जांच बहुत ही सजग

8– रानडे: पाथ वे टु गाड इन् कन्नड लिटरेचर पृ. 151

9–पी सी. केलकर: आटोबायोग्राफी आफ् गुरुदेव रानडे, ए डिस्कवरी, प्रका. पूना. वि. वि. 1980, पृ. सं. 19,

होकर की है। सर्वप्रथम वे तत्कालीन धार्मिक विचारों से प्रभावित हुए। पूर्व संस्कार एवं पारिवारिक आध्यात्मिक परिवेश के कारण वे दर्शन की अपेक्षा रहस्यवाद के सम्पर्क में आ गये। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि दर्शनशास्त्र द्वारा निर्देशित तर्क प्रधान एवं बौद्धिक प्रयास की अपेक्षा रहस्यवाद का अनुभूतिप्रधान मार्ग अधिक प्रामाणिक है। सर्वप्रथम उन्होंने इसे व्यावहारिक मार्ग के रूप में लिया क्योंकि इसमें तर्क एवं बौद्धिक विश्लेषण की प्रधानता नहीं थी। यह मार्ग आत्मानुभूति की ओर प्रेरित करता है जिसके परिणामस्वरूप सहज ही द्वैतभाव विनष्ट होकर परम-सत्य का साक्षात् अन्तर्दर्शन प्रस्तुत करता है। रानडे ने इस रहस्यवादी मार्ग की पुष्टि के लिए भारतीय दर्शन में वर्णित अन्य प्रमाणों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसे स्वतःप्रमाणवाद के रूप में ग्रहण किया। अतः रानडे के अन्तः प्रज्ञात्मक व आत्मानुभूतिवादी प्रमाण के पूर्व अन्य प्रमाणों का अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत प्रायःज्ञान के विषय में छः प्रकार के प्रमाण मिलते हैं जिनमें से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार न्यायदर्शन की देन हैं और शेष अनुपलब्धि एवं अर्थापत्ति परवर्ती मीमांसादर्शन द्वारा प्रस्तुत किये गये।

प्रत्यक्ष के खंडन में रानडे ने श्री रामानुजाचार्य का तर्क प्रयुक्त किया और कहा कि रामानुज का संकेत है कि "ज्वालाभेद" के अनुमान से प्रत्यक्ष खंडित हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष कोई स्थायी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष को रानडे एक विशिष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष का तात्पर्य उन्होंने अन्तर्दर्शन से लिया जिसमें अपरोक्षानुभूति होती है। इसे वे स्वतः प्रमाणित व सार्वभौमिक मानते हैं किन्तु इन्द्रियजन्य अनुभव को अथवा प्रत्यक्ष को नहीं।

अनुमान की अनुपपत्ति दिखलाने में प्रो. रानडे ने ब्रैडले, श्री हर्ष ह्यूम आदि के विचारों को पुष्ट करते हुए बताया कि ब्रैंडले निर्णय और अनुमान को प्रतिभास मानते हैं। श्री हर्ष भी व्याप्तिज्ञान संभव नहीं मानते

क्योंकि उचित व्याप्ति सम्बन्ध के लिए प्रत्येक व्यक्ति को भूत, वर्तमान और भविष्य में भी ज्ञान होना चाहिए, जोकि असंभव है। अतः रानडे ने भी अनुमान को सीमित अर्थ में ही प्रमाण स्वीकार किया है।

उपमान के संदर्भ में रानडे का कथन है कि यह प्रकारान्तर से सादृश्यानुमान ही है। किन्तु सादृश्यानुमान से केवल प्रायिक निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। अतः यह भी वैधयुक्त नहीं है। प्रो. रानडे कहते हैं, "इस अन्योनाश्रित सादृश्य में सादृश्यों की अनिश्चित एवं अनिर्धारित कोटियां अंतर्भूत हैं।"[10]

शब्द की प्रमाण सामर्थ्य पर विचार करते हुये रानडे ने बताया कि वैशिषिकों ने इसका प्रबल खंडन किया है। सांख्यवादी इसे इसलिए मानते हैं कि उनके अनुसार उपनिषद् में सांख्यमत का ही उपदेश हुआ है। नैय्यायिक इसे ईश्वर के अधीन मानते हैं। प्रो. रानडे "नित्यशब्द"[11] को प्रमाण मानने के पक्ष में हैं। परन्तु सामान्य रूपसे उन्होंने शब्द को प्रमाण नहीं माना।

अनुपलब्धि के प्रसंग में प्रो. रानडे कहते हैं कि अभाव के ज्ञान का अर्थ है कि हम वह जानना चाहते हैं जो हम नहीं हैं। अतः अनुपलब्धि अनावश्यक है। इसी प्रकार अर्थापत्ति को भी वैकल्पिक युक्ति कहकर अनावश्यक सिद्ध कर दिया।

रानडे का रहस्यवादी प्रमाण में दृढ़ विश्वास था। उन्होंने रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के संदर्भ में अनुभव की प्राथमिकता को स्वीकार करते हुए कहा, "जब शब्द ब्रह्मसाक्षात्कार की अन्तःवृत्ति के स्वरूप का यथार्थ निर्देशन करने में असफल रहते हैं तो सुविधा के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द बुद्धि अथवा अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह लीजिए आविष्कृत कर लेना और उसे ब्रह्म साक्षात्कार का उत्तरदायी बनाना उपयुक्त

10–वेन्दान्त एज ए कल्मिनेशन आफ् इंडियन थाट : रानडे पृ. 38 प्रका. भारतीय विद्याभवन बम्बई, 1970

11 – वेदान्त एज ए कल्मिनेशन ऑफ् इंडियन थाट रानडे पृ. सं. 39

है।''[12] उन्होंने तर्क को श्रुतिसापेक्ष तथा श्रुतिको अनुभव सापेक्ष बताया है, किन्तु ईश्वरानुभूति के प्रसंग में दोनों को अनावश्यक एवं असमर्थ माना। तर्क परमार्थ को द्वैत में विभाजित कर देता है इसलिए वह अनावश्यक सिद्ध हुआ और श्रुति इसलिए अनावश्यक सिद्ध हुई कि रहस्यवादी का लक्ष्य केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना नहीं है उसे तो ईश्वर का साक्षात्कार करना है। अतः अन्ततोगत्वा अनुभूति को ही रानडे ने उपयुक्त प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की और अनुभव की पृष्ठभूमि पर ही अपने रहस्यानुभूतिवादी दर्शन की स्थापना की।

रानडे ने अपने दर्शन की प्रामाणिकता ब्रह्मसूत्र के प्रथम मन्त्र[13] से ली जिसमें बताया गया है कि ब्रह्मजिज्ञासा मनुष्य का परम कर्तव्य है। यहां जिज्ञासा का अर्थ केवल बौद्धिक उत्सुकता मात्र नहीं बल्कि यह वह ज्ञान है जिसका पर्यवसान अपरोक्षानुभूति में होता है। उपनिषदों में ऐसे प्रमाण आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः[14] आदि कथनोंद्वारा प्रस्तुत किया गया है। अतः रानडे ने रहस्यानुभूति को एक प्रबल प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जिसके द्वारा ईश्वर साक्षात्कार सहज ही प्राप्त हो सकता है साथ ही परमात्मा का यथार्थज्ञान भी।

रहस्यवादियों की अवधारणा है कि आस्था को प्रमाणित करने वाले विचार प्रवाह को दर्शन कहते हैं। देश एवं काल के अनुरूप विश्व के सभी दर्शन इस लक्ष्य की पूर्ति करते रहे। उनके स्वरूप एवं प्रतिपादनों में भिन्नता अवश्य हो गयी है किन्तु मूलप्रयोजन में नहीं। चूंकि मानवीय चिंतन प्रवाह को परमोत्कृष्टता की ओर ले जाने में दर्शन की असामान्य भूमिका होती है। अतः विश्व के समस्त दर्शनों में विवादों का बाहुल्य दिखाई पड़ता है।

प्रयोजन स्पष्ट होते हुए स्वरूप में मतभेद को देखकर सामान्य व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो जाता है और मुख्य लक्ष्य को भी भूल जाता है।

12- कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी : रानडे अनु. रामानंद तिवारी राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पृ. 221–22.

13- अथातो ब्रह्मजिज्ञासा 1/1/1 ब्रह्मसूत्र शां. भा.

14- वृहदारण्यक उपनिषद: 2/4/5

भारतीय ऋषियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने मानव समाज के लिए सबसे उपयोगी एवं कल्याणकारी रहस्यों को ऐसे सरल एवं ग्राह्य ढंग से प्रस्तुत किया है जिनको समझने एवं अपनाने में किसी को कोई कठिनाई न हो। रहस्यवाद इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

रहस्यवाद का मूल आधार उपनिषद्-दर्शन है। उपनिषद् ही, दार्शनिक ज्ञान एवं रहस्यवादी प्रेरणा के चिरस्थायी स्रोत हैं। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों से चुने हुए फूलों से निर्मित माला के समान है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का आधार इन उपनिपदों में ही दृश्य है। इसी में रहस्य-वाद के बीज भी यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं। विद्वान ऋषियों ने मंत्रों के माध्यम से इस रहस्य विद्या का उल्लेख "क्षुरे की धार के समान दुस्तर" कहकर दिया है। वास्तव में उपनिषद् हमें कोई लौकिक एवं तार्किक प्रणाली नहीं प्रदान करते हैं। ये केवल दैवी प्रेरणा की चरणो-त्कृष्टता में सहजानुभूति एवं प्रज्ञात्मक प्रयास ही प्रकट करते हैं। "वे एक ऐसी अदृश्य शक्ति का संरक्षण स्वीकार करते थे जो आत्मा को अनन्तप्रकाश एवं परमानन्द की ओर ले जाता है। लेकिन अन्तिम निष्पत्ति अतीन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से ही आती है।"[15]

रहस्यवादी दर्शन में समाहित विचार एवं प्रेरणायें आस्था परिशोधन एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना एक सशक्त माध्यम है। "रहस्यवाद अपनी उत्पत्ति मानव मन के निरन्तर शोधपरक प्रयासों में मानता है और रहस्यवादी उत्कर्प आत्मा को अत्यधिक आनंद प्रदान करता है जो कि मानसिकता पर गहरा प्रभाव डालता है।"[16] यदि ऐसे किसी दर्शन की आवश्यकता हो जो विवादों से रहित एवं सहज बोधगम्य हो, तब वह रहस्यवादी दर्शन ही हो सकता है क्योंकि रहस्यानुभूति किसी प्रमाण की आवश्यकता पर बल नहीं देती। वह स्वतः प्रमाणित है। अपने आप में वह पर्याप्त है। वह अपने प्रमाणीकरण में अपने अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टि नहीं डालती।

15–हिन्दू मिस्टीसिज्म: एम. सरकार, प्रका. ब्राडवे हाऊस लन्दन, 1938 पृ. सं. 4
16–हिन्दू मिस्टीसिज्म; एम. सरकार पृ. सं. 8

प्रत्यक्षवादियों का कहना है कि जिन चीजों का अस्तित्व है, वे प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती हैं। यही स्थूल कसौटी प्रायः लोग आत्मा एवं ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त करते हैं। तथा उस पर खरा न उतरने पर परम सत्ता एवं आत्मसत्ता को मानना अस्वीकार कर देते हैं। ईश्वर के प्रति ऐसे अनेक मानदण्डों को रानडे ने अवैज्ञानिक एवं अविवेकपूर्ण कहा है।

ईश्वर साक्षात्कार केवल बुद्धिजन्य ज्ञान नहीं है। यह संपूर्ण व्यक्तित्व का संघटित अनुभव है। रानडे की कृतियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रहयस्वाद को अदार्शनिक एवं अयौक्तिक समझे जाने से वे वहुत खिन्न थे। अतः उन्होंने रहस्यवादी प्रक्रिया में निहित बुद्धिपक्ष को सामने लाने के प्रयास की अपेक्षा प्रज्ञा की अन्तर्शक्ति को प्रकट करने का अधिक प्रयास किया।

आत्मा एवं ब्रह्म की एकता के संदर्भ में ज्ञान के साथ ही साथ ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम एवं भक्ति का योग भी अपेक्षित बताया। इसीलिए उन्होंने ईश्वर साक्षात्कार को भक्तिमय निदिध्यासन् कहा है। चूंकि ईश्वर का साक्षात्कार आत्मा के आलोक में परमात्मा का दर्शन है तथा साधक को इस संदर्भ में अन्तर्मुखी होना पड़ता है। इसके लिए उन्होंने सर्वात्मबुद्धि का विकास करना आवश्यक बताया और शान्त, संयमित तथा तपोमय जीवन व्यतीत करने का संकेत दिया।

' मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र '[17] में प्रो. रानडे ने रहस्यवाद को वह मानसवृत्ति कहा है '' जिसके अंतर्गत ईश्वर की सीधी अपरोक्ष एवं आंतप्रज्ञ चेतना आती है ''।[18] इस अपरोक्ष एवं आंतप्रज्ञ चेतना को जो ईश्वर से सम्बद्ध होती है, उसी संदर्भ में ' ईश्वर का विश्रामपूर्ण तथा प्रेय निदिध्यासन,'[19] तथा ' मौन आनन्दभोग,'[20] कहते हैं। इन

17–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पूना 1933
18–मिटीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे पृ. सं. 1
19–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्रः रानडे पृ. सं 1
20–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्रः रानडे पृ. सं. 1

कथनों का विश्लेषण करने पर रहस्यानुभूति के संदर्भ में चार विचारसूत्र उपलब्ध होते हैं ।

(1) वह प्रमाण जिससे उक्त अनुभव की प्राप्ति होती है अंत-प्रज्ञा है ।
(2) यह अतीन्द्रिय है ।
(3) प्रेयरूप में ईश्वर के निदिध्यासन में ईश्वरानुभव करने वाली अंतप्रज्ञा प्रस्फुटित होती है ।
(4) यह अनुभूति संतोष एवं आनन्दानुभूतियों से सहचरित होती है ।

रानडे ने रहस्यानुभूति के लिए आंशिक रूप से बुद्धि, इच्छा एवं भावना को आवश्यक बताया है । आगे चलकर उन्होंने बुद्धि के स्थान पर कर्म शब्द रखकर इस त्रिपुटी के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया । उन्होंने कहा कि इन तीनों के समन्वय से ही आत्मानुभूति संभव है । रानडे का विश्वास है कि आत्मानुभूति के संदर्भ में सभी देशों एवं युगों के रहस्यवादी चिंतकों में मतैक्य है । प्रो. रानडे ने स्वयं कहा है कि उनके अन्तर्गत किसी प्रकार का जातिगत, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीयता का भेद नहीं है । रहस्यवाद को वे एक व्यापक प्रवृत्ति मानते थे । अतः उसका सैद्धान्तिक वर्णन प्रस्तुत करने की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष को ही रानडे ने अधिक सुदृढ़ किया ।

रानडे के अनुसार संसार के समस्त रहस्यवादियों के ईश्वर – साक्षात्कार की कुछ सामान्य विशेषतायें हैं । प्रथम तो ऐसे दार्शनिकों में नैतिक और आध्यात्मिक तत्व हैं, जो मानव को आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाते हैं । दूसरे इसमें नैतिक और आध्यात्मिक तैयारी का प्रश्न आता है जिसे पूर्णतया हल करना भी परमावश्यक है । तीसरे उसको अपने सम्मुख कुछ आदर्श रखने पड़ते हैं । और इन आदर्शों का ईश्वरसे सम्बन्ध निश्चित करना पड़ता है और फिर स्वयं उस ईश्वरीय मार्ग पर चलकर तत्सम्बन्धी ज्ञान का अनुभव करना पड़ता है । अन्त में जब वे पर्याप्त समय तक उस मार्ग पर चल लेते हैं तब उस

पर कुछ निर्देशक चिह्न निश्चित करने योग्य ही जाते हैं जिससे उनके सर्वोच्च आदर्श प्राप्ति में सहायता मिलती है ।

रहस्यवाद में समस्त बौद्धिक प्रयासों के अतिरिक्त सत् में एक ऐसा तत्व शेष रह जाता है जो रहस्यात्मक होता है । हार्किंग महोदय के शब्दों में " रहस्यवाद में यह स्वीकार करने की प्रवृत्ति होती है कि यथार्थ अपनी सूक्ष्मतम स्थिति में भी पूर्ण तथा समग्र ही हो सकता है । अतः सत् को न तो महान् ही कहा जा सकता है और न अन्महान् । " [21]

रानडे की मान्यता है कि यदि हमें दैहिक जीवन की चकाचौंध से ऊपर उठने में सहायता मिलती है तो यह आत्मानुचिंतन द्वारा रहस्य को जाननेकी अनवरत प्रक्रिया से ही संभव है । भारतीय विचारधारा ने नवीन ज्ञान और आत्मिक पुनरूत्थान के लिए सदैव इसका आश्रय लिया है । विना इस सिद्धान्त को स्वीकार किये हुए किन्हीं दो दार्शनिक सम्प्रदायों अथवा मतों में सहसम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता । रानडे दार्शनिक चितन को एक व्यापक प्रवृत्ति मानते थे और रहस्यवाद को एक ऐसी गहन दार्शनिक चेतना की उपज जो सभी दर्शन सम्प्रदायों के तत्वज्ञानमूलक रूढ़िगत सिद्धान्तों से असन्तुष्ट हो चुकी है । अतः रहस्यवाद तत्वमीमांसा के कथन में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा प्रज्ञा की सहजानुभूति पर विशेष बल देता है । तर्क की अपेक्षा आन्तरिक प्रकाश पर निर्भर होने के कारण इसकी आत्मानुभूति की ओर सतत् प्रवृत्ति होती है । प्रो. रानडे का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति तर्कों के माध्यम से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता ।

रहस्यवादी का यह दृढ़ आत्मविश्वास है कि दैवी तत्व का उससे तादात्म्य सम्बन्ध संभव है । तथा वह परमतत्व को अन्तप्रज्ञा की सहजानुभूति द्वारा प्राप्त कर सकता है । रहस्यवादी दर्शन की प्रतिष्ठा के

21–दर्शन के प्रकार, – लेखक विलियम अर्न्स्ट हार्किंग अनु. रमेशचन्द्र प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अका. जयपुर पृ. 264

माध्यम से ही भारतीय दर्शन एक बहुत बडे आक्षेप से मुक्त हुआ है कि वह एक धनदर्शन है, अर्थात् उसमें विविध अनुभूतिपरक प्रवृत्तियां नहीं हैं। भारतीय दर्शनों में ज्ञान एवं सत्ता की एकता कई दृष्टिकोणों से सिद्ध की गयी है। प्रो. रानडे ने ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान और सत्ता को एक माना है। आत्मानुभूतिवाद द्वारा ईश्वर साक्षात्कार को सर्वथा संभव बतलाकर इस विवाद को उन्होंने समाप्त कर दिया।

प्रो. रानडे ने स्पष्ट रूप से कहा कि रहस्यवाद का उचित स्थान दर्शन नहीं बल्कि धर्म है। इस साधन को अपनाकर उन्होंने आजीवन अपनी सभी वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख किया तथा साक्षात्कार एवं परम ज्ञान की प्राप्ति की।

उन्होंने कहा कि इस रहस्यवाद का सम्बन्ध किसी इन्द्रजाल अथवा चत्मकार प्रदर्शन से नहीं है। रहस्यवाद में रहस्योद्घाटन होता है। वह स्वतः रहस्यमय अथवा अस्पष्ट नहीं होता। यह वह परमज्योति है जिसके माध्यम से ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति एवं ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस सन्दर्भ में प्रो. रानडे ने रहस्यवाद का अर्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा आत्मा की सहज अनुभूति से लिया। इसमें दार्शनिक चिंतन तथा नैतिक प्रयास की चरमसीमा प्राप्त होती है। इसमें सभी प्रकार की शंकाओं का निराकरण होता है। हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। आत्मानुभूति के समय रहस्यवादी अपनी आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम छोर पर पहुंच जाता है जहां से पुनः वापस होने का भय समाप्त हो जाता है। इस समय वह अनन्तपूर्णानन्द के साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त कर प्राणिमात्र के कल्याणार्थ चतुर्दिक् दैवी सन्देश वितरित करता है।

प्रो. रानडे अपने को दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी अधिक मानते थे। उनके अनुसार सभी रहस्यवादी दार्शनिक हो सकते हैं। परन्तु सभी दार्शनिक रहस्यवादी नहीं हो सकते। इस प्रकार दर्शन की अपेक्षा रहस्यवाद के क्षेत्र को उन्होंने अधिक व्यापक बतलाया। रानडे ने दार्शनिकों को उनके कर्तव्य की ओर भी संकेत किया और कहा कि

दार्शनिक हैसियत से उनका कार्य दर्शाना तर्क करना और ऐसी युक्तियां देना है जो बुद्धि को संतोष दे सकें। पुनः रहस्यवादियों के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए कहा कि रहस्यवादी का कार्य युक्तियों द्वारा बुद्धि को संतोष देना नहीं। वह तो उस साक्षात् अनुभव की कामना करता है जिसका युक्तियों द्वारा मात्र अनुमान किया जा सकता है। रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है यदि ऐसा होता तो बहुत से रहस्यवादी जो अपढ़ थे, अपने उच्चकोटि के विचारों को प्रकट न कर पाते।

रानडे ने दर्शन और रहस्यवाद के सहयोग की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सन् 1924 ई. में पूना स्थित अपने निवास " आध्यात्मभवन " में दर्शन और धर्म की संयुक्त अकादमी की स्थापना की। अकादमी की नियमावली में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि मनुष्य के लिए ईश्वर का अस्तित्व तथा प्रकृति से सम्बन्ध की समस्या के निराकरण के लिए दर्शन और धर्म दोनों का संयुक्त निर्देश परमावश्यक है। दर्शन और धर्म दोनों इस समस्या का हल देने का प्रयास करते हैं परन्तु दोनों का मार्ग भिन्न है। जहां दर्शन इस समस्या के बौद्धिक पक्ष को लेकर अग्रसर होता है वहों धर्म प्रयोगात्मक पक्ष लेकर। दार्शनिक विवेचन अनुभूति नहीं दे सकता किन्तु ईश्वर साक्षात्कार के लिए इच्छुक साधकों को प्रारम्भिक संकेत तो दे ही सकता है।

प्रो. कुलकर्णी ने इस दृष्टिकोण से रानडे के दर्शन को उत्कृष्ट बतलाते हुए कहा है, "रानडे का दर्शन चाहे वह ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा, नीतिमीमांसा अथवा धर्मशास्त्र मीमांसा जो कुछ भी हो, वह ईश्वरानुभूति के सिद्धान्त द्वारा ही परिष्कृत हुआ है। सभी विचारों को निष्कर्षतः आत्मानुभूति द्वारा ही सत्यता प्रदान की।"[22] रानडे ने स्वयं अपने दर्शन को अत्युत्कृष्ट मानते हुए बडे गर्व के साथ स्पष्ट शब्दों में कहा

22– क्रिटिकल एण्ड कन्स्ट्रक्टिव एस्पेक्ट्स ऑफ् प्रो. रानडेज फिलासफी– वी. आर. कुलकर्णी पृ. सं. 2

हैं, " रहस्यात्मक अनुभूति के लिए एक निश्चित दार्शनिक (तात्विक) आधार का निर्धारण भावी दर्शन शास्त्र के लिए एक महत्व पूर्ण प्रश्न होगा। तर्कमूलक अनुभूतिशास्त्र जो अब तक शाब्दिक प्रति विरोध समझा जाता था अब अपने सत्य को प्रमाणित कर देगा।" [23]

अब रहस्यवाद के स्वरूप एवं साधन मार्ग का संक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है। रानडे ने पहले ही बताया हैं कि आत्मानुभूति दर्शन व्यावहारिक व प्रायोगिक पक्ष है। ईश्वरानुभूति के साधनामार्ग के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है, " रहस्यवादी मार्ग जिसका उल्लेख मैं कर रहा हूँ किसी भी व्यक्ति के लिए उसके आदर्शों एवं योग्यताओं के आधार पर उपयुक्त है। यह अत्यन्त व्यावहारिक सिद्धान्त है और अनेकों महान् साधकों द्वारा पूर्वाभ्यासित है। मैंने स्वयं इस मार्ग का परिचय अपने बाल्यकाल में ही प्राप्त किया जब मैंने भगवद्गीता का अध्ययन प्रारम्भ किया था। और इसे अठ्ठारह वर्ष की आयु में प्रयोग में लाया।" [24]

प्रो. रानडे का आत्मा की अनन्त शक्ति में दृढ़ विश्वास था। परिणामस्वरूप उन्होंने आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन सम्भाव्य बतलाया। उनकी मान्यता थी कि दृश्य एवं अदृश्य का बोध कराने वाले हमारे निर्धारित पैमाने एवं ज्ञानेन्द्रियां जब वस्तु की ही पूरी जानकारी नहीं दे पातीं तो भला उस परमसत्ता की जानकारी किस प्रकार दे सकती हैं? अतः ऋषियों ने पवित्र अंतःकरण को ही आत्मानुभूति का आधार माना और यह कहा कि उस विराटसत्ता का अंश जीवात्मा के रूप में मनुष्य के भीतर बैठा हुआ है जिसकी अनुभूति कर सकना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है। अंतःकी निर्मलता, पवित्रता एवं महानता ही एकमात्र कसौटी है जिसका अवलम्बन लेकर ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है।

23– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण अनु रामानंद ति. पृ. सं

24– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन; रानडे पृ. सं. 248

रानडे का दर्शन स्वानुभूति का दर्शन है। इसका निगमन प्राचीन धर्मग्रन्थों वेद उपनिषद् एवं गीता से हुआ है। प्रो. रानडे ने इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है, "हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों में आत्म साक्षात्कार के रहस्यात्मक निर्देश पाते हैं जो गुदडी के लालों की भांति प्रज्ञात्मक आवरणों में छिपे हुए हैं तथा जिनकी अमूल्यता को कोई पारखी ही समझ सकता है।"[25] रानडे की मान्यता है कि शब्दों द्वारा आत्मसाक्षात्कार के अपूर्व अनुभव का वर्णन चाहे वह कितना ही परिपूर्ण क्यों न हो, सत्य को नहीं पा सकता। एक अनुभव की अभिव्यक्ति और उसके आनन्दभोग में इन्होंने उतना ही अन्तर बतलाया जितना कि किसी वस्तु के स्वरूप ज्ञान और अनुभव में होता है। इनका कथन है कि ईश्वरानुभूति के लिए सद्गुरू की आवश्यकता होती है क्योंकि वही सर्व प्रथम साधक को "नामस्मरण" की दीक्षा देता है। साधना मार्ग पर चलने के लिए ईश्वरीय कृपा का होना भी आवश्यक है परन्तु अन्यत्र इन्होंने स्वयं कहा है, "परमार्थ के जिज्ञासुओं के अन्यथा अन्धकारमय आध्यात्मिक पक्ष को, दीप स्तम्भों के रूप में उनके लिए मार्ग निर्देश करने के लिए आत्मसाक्षात्कार के अनुभवों को स्वयं प्रच्छन्न रूप में व्यक्त होना पड़ता है।"[26]

रानडे ने बताया कि रहस्यानुभूति मार्ग पर चलने के पूर्व साधक में इच्छा, भावना एवं कर्म का होना अति आवश्यक है। क्योंकि अनुभूति का जागरण इसी केन्द्र बिन्दु से प्रारम्भ होता है। आगे चलकर इन्होंने कहा, "सभी रहस्यवादियों को दार्शनिक होने की जरूरत नहीं है और न सभी को कर्मठ होने की आवश्यकता है परन्तु जहां भी सच्चा रहस्यवाद है वहाँ इन तीन शक्तियों (ज्ञान, भावना और कर्म) में से किसी एक को अवश्य प्रस्फुटित होना है और जब तक हम किसी रहस्यवादी की इन शक्तियों में से कम से कम एक का पूर्ण विकास न देख लें तबतक

25- ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ् उपनिषदिक फिलॉसफी- रानडे अनुवादक रामानन्द तिवारी पृ. सं. 211.

26- ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ् उपनिषदिक फिलॉसफी- रानडे पृ. सं. 65.

हम नहीं कह सकते कि वह रहस्यवादी नामसे अभिहित करने के सर्वथा योग्य है।'' [27]

रानडे ने रहस्यानुभूति के लिए सतत् साधना करते रहना एवं गुरू के प्रति असीम श्रद्धा बनाये रखना परमावश्यक बताया। रानडे ने गीता की तरह '' निष्काम कर्मयोग '' की आत्मानुभूति के संदर्भ में, महती आवश्यकता पर बल दिया। रानडे ने गीता के अठ्ठारह वें अध्याय के '' मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि '' से प्रेरणा लेकर ही ईश्वर की अनन्य भक्ति एवं निदिध्यासन प्रारम्भ किया था। इस प्रकार रानडे ने कर्म करते हुए ईश्वर साक्षात्कार का सुलभ मार्ग गीता के ही संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए गीता के रहस्यवाद को प्रकट किया जिसकी व्याख्या इन्होंने '' भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गॉड रियलाइजेशन '' [28] नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है।

अस्तु प्रो. रानडे का दर्शन अर्थात् उनका रहस्यवाद ईश्वर साक्षात्कार का सर्वसुलभ मार्ग प्रस्तुत कर भारतीय संत परम्परा की प्रतिष्ठा को कायम रख सका। यद्यपि प्रो. रानडे के रहस्यवाद का मूल स्त्रोत वेद एवं उपनिषद् दर्शन ही है फिर भी उसके मूल तथ्य का प्रकटीकरण अपनी विशिष्ट साधनानुष्ठान एवं अन्तःप्रकाश से निःसृत कर कतिपय मौलिकता का समावेश अवश्य कर देता है। यह इनकी स्वयं की आन्तर्मुखी प्रवृत्ति का सद्परिणाम ही कहा जा सकता है। उपनिषदीय रहस्यवाद के उद्घाटन् कर्ता एवं व्याख्याकार के रूप में प्रो. रानडे सर्व प्रथम व्यक्ति कहे जा सकते हैं जिन्होंने वेद एवं उपनिषदीय विचारों को उन्हीं ऋषियों की हो दृष्टि से देखने का प्रयास किया जो उसके निर्माता थे। रानडे के शब्दों में भी यही कथन ध्वनित होता है ''रहस्यवाद औपनिषदिक् दर्शन की परिपूर्णता है तथा यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।'' [29]

❖ ❖

27–गीता अध्याय 18 श्लोक संख्या 58

28–लेखक: रानडे, प्रका. नागपुर विश्वविद्यालय प्र. सं. 1959 पृ. सं. 331.

29-रानडे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, अनु. रामानंद तिवारी पृ. सं. 65

द्वितीय परिच्छेद

उपनिषद् एवं रहस्यवाद

प्राचीन भारतीय परम्परा से अपने को अविच्छिन्न रखते हुए रानडे ने वेदों एवं उपनिषदों पर नहीं अपने ज्ञानसिद्धान्त को आधारित किया। उपनिषदों को तो उन्होंने सम्पूर्ण भारतीय विचारों के मूलतत्व के रूप में ग्रहण किया। उपनिषद् दर्शन के पूर्व भी उन्होंने दार्शनिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन किया, जिसे वैदिक दर्शन के नाम से अभिहित किया। रानडे ने अपनी पुस्तक "ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आंफ् उपनिषदिक् फिलासफी" में सर्वप्रथम उपनिषदों का वैदिक दर्शन से सम्बंध निरूपित किया है क्योंकि उनके अनुसार उपनिषद् के पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संहिताओं में दार्शनिक विचार निहित मिलते हैं।

वैदिक दर्शन के अन्तर्गत वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उन्होंने बताया कि उपनिषद् दर्शन में प्रयुक्त सृष्टि-शास्त्र, नीतिशास्त्र, और रहस्यवाद भी सभी के बीज वेदों में निहित हैं। इस प्रकार वेद ज्ञान का आदि स्रोत है। रानडे ने अपने समस्त विचारों का केन्द्र वैदिक दर्शन को माना क्योंकि उनके अनुसार समस्त उपनिषद् दर्शन वेदों की ही एक मात्र व्याख्या है।[1]

वेद शब्द विद् (जानना) धातु से बना है जिसका अर्थ है सर्वोच्च ज्ञान अथवा पवित्र ज्ञान। भारतीय संस्कृति में इसके चार अंग ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद एवं सामवेद मिलते हैं तथा इनके अन्तर्गत ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड एवं उपासनाकाण्ड का स्पष्ट निरूपण[2] हुआ है। रानडे के अनुसार ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में परतत्वशास्त्र की सम्यक् विवेचना निहित है तथा अथर्ववेद में तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी कथनों का बाहुल्य है।

1–अनु: रामानंद तिवारी:उपनिषदकों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ. सं. 3

2–सत्यदेव शास्त्री ईशावास्य रहस्यः पृ. सं. । प्राक्कथन

वैदिक धर्म के गहन अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इसका प्रारम्भ बहुदेववाद में होकर पर्यवसान एकवाद में हुआ है। प्रारम्भ में वैदिक सूक्तकारों ने सृष्टि–व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनायें प्रस्तुत की हैं।[3] क्योंकि जिस देव की प्रशंसा या स्तुति की जाती थी उसी को इस शक्ति से युक्त मान लिया जाता था। जल, वायु, अग्नि, आदि से सृष्टि की उत्पत्ति का कथन अनेकों बार किया गया है। सृष्टि सम्बंधी कथनों में जल द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का कथन अन्य तत्व द्वारा प्रयुक्त कथनों से अधिक प्रयुक्त हुआ है।[4] पुरुष सूक्त में प्रतीकात्मक रूप से पुरूप के अंगों से सृष्टि के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति मानी गयी है, परन्तु नासदीय सूक्त में जो धारणा है, वह अन्य सूक्तों में वर्णित धारणा की अपेक्षा अधिक विकसित है। वेदों में माया का स्वरूप भी वर्णित है। केवल ऋग्वेद में ही इसका चौबीस बार प्रयोग हुआ है।[5] इन्द्र के साथ इसका प्रयोग अतिमानवीय शक्ति के अर्थ में हुआ है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण अथर्ववेद में हुआ है, जहां इस शब्द का प्रयोग जादू के अर्थ में हुआ है। वैदिक तत्वचिन्तकों का मुख्य दृष्टिकोण भौतिक था क्योंकि उनमें उपनिषदों की भांति "असतो मा सद्गमय" की प्रार्थना न करके पुत्रधन, पशुधन आदि की प्राप्ति के लिए स्तुति मिलती है।[6]

वेदों में आत्मा के स्वरूप का प्रश्न उठाया गया है। "को नु आत्मा" तथा "अजोभागः" आदि के कथनों द्वारा आत्मा को जीव से पृथक् बताया गया है। दो पक्षी एक शरीर में बसते हैं: इस प्रसिद्ध मन्त्र में, जिसे उपनिषदों ने भी लिया है,[7] कार्यों का फल भोगने वाले जीव और निष्क्रिय द्रष्टा आत्मा में भेद किया गया है।[8] इस प्रकार वेदों में

3-मैकडानल; वैदिक माइथोलाजी पृ. सं. 19

4–डा. महेन्द्र शेखावत, वेदान्त का उद्भव एवं विकास, पृ सं 9

5-प्रभु दत्त शास्त्री द डाक्ट्रिन आफ माया पृ. सं. 6–7

6-डा. महेन्द शेखावत वेदान्त का उद्भव एव विकास पृ. सं. 9

7–मु. उ. 3,1,1, श्वेता. उप. पृ. सं. 4–6

8–अत्र लौकिक पक्षद्वय दृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयते। सायण भाष्य 1, 164, 17

एकतत्ववाद की स्थापना की गयी है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का यह कथन कि सत् एक ही है पर विद्वान इसे अनेक कहते है।[9] इसके अतिरिक्त अन्यत्र हमें यह कथन मिलता है कि सभी देवों का सारतत्व एक ही है। ऋग्वेद में स्पष्टरूप से बताया गया है कि प्रथम न तो सत् था और न असत्, न वायु था, न आकाश, न मृत्यु थी, न अमरत्व, न दिन ही था और न रात, केवल एक परम तत्व सत् अर्थात् परमसत् स्वस्थरूप में शान्ति-पूर्वक सांस लेता था। उसके बाहर किसीका भी कोई अस्तित्व न था।[10] अन्यत्र भी इसी तरह का कथन मिलता है कि अनिर्वचनीय तत्व ही सभी नाम और रूपों का आधार है, वही सम्पूर्ण सृष्टि का अधिष्ठान भी है,[11] वह सम्पूर्ण सृष्टि में अन्तर्यामी है और वही उससे अतीत भी है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि एकतत्ववाद या अद्वैतवाद ही वेदों का सार है।

रानडे ने वैदिक युग से उपनिषदीय युगकी ओर बढ़ने पर एक ओर उनमें पुनर्कथनों का सामन्जस्य देखा और दूसरी और कुछ नवीन तथ्यों की उत्पत्ति भी। उनके ही शब्दों में, '' जैसे जैसे हम वैदिक युग से उपनिषदीय युग की ओर बढ़ते जाते हैं हमें मानवीय भावना का केन्द्र ईश्वर की ओर से हटकर आत्मा की ओर बढ़ता हुआ दिखायी देता है।[12] वेदों का उपनिषदों पर प्रभाव व्यक्त करते हुए रानडे ने स्पष्ट रूप से यह संकेत प्रस्तुत किया है कि वेदों के अस्पष्ट विचार उपनिषद् दर्शन में, ऋषियों के माध्यम से स्पष्ट हो जाते हैं। अत: उपनिषद् पूर्णरूपेण वैदिक दर्शन का उपजीव्य है। इस प्रभाव का उल्लेख रानडे ने इन शब्दों में व्यक्त किया '' एकशब्द में हम कह सकते हैं कि जैसे–जैसे हम वेदों से उपनिषदों की और बढ़ते हैं, हम उपासना से

9-ऋग्वेद 1-146-46
10–ऋग्वेद 10-129
11–ऋग्वेद 10-90-3.
12–रामानंद तिवारी (अनु.) उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ. सं. 2.

दर्शन की ओर, मन्त्रगान से ध्यान की ओर, अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद मूलक रहस्यवाद की ओर बढ़ते हैं।[14]

वैदिक संहिताओं के बाद उनके व्याख्यापरक ब्राह्मण ग्रन्थों की सम्पूर्ण शक्ति याज्ञिक विधियों की व्याख्या करने में केन्द्रित रही।[15] इस काल में यज्ञादि विधियों का न केवल विस्तार हुआ, अपितु उनके स्वरूप में भी परिवर्तन आ गया। संहिताकाल में यज्ञादि कर्म देवानुकूलत्व के लिए किये जाते थे, परन्तु ब्राह्मण काल में उन पर इतना अधिक विश्वास बढ़ गया कि यज्ञादि कर्मों को न केवल देवों को देवत्व-शक्ति प्रदान करने वाला माना जाने लगा।[16] प्रत्युत यज्ञों से सृष्टि-व्युत्पत्ति का समाधान भी प्रस्तुत किया जाने लगा।

वेदान्तीय विचार धारा की दृष्टि से इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के महत्व का प्रतिपादन होने लगा था, यद्यपि उसका स्वरूप कर्मकाण्डपरक ही था। शतपथब्राह्मण ने सृष्टि व्युत्पत्ति के कार्य में ब्रह्म का प्रजापति के सहायक के रूप में वर्णन किया है।[17] द्वितीय अवस्था में स्वयं ब्रह्म को इतना महत्व प्रदान किया गया कि इसे ही सृष्टि का पूर्ण तत्व [18] एवं द्यावापृथ्वी को धारण [19] करने वाला कहा गया है। तैत्तिरीय तथा अरण्यक में तो ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवं अनंत तक कह दिया गया है। इस प्रकार ब्रह्म को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करना ब्राह्मण ग्रन्थों की दर्शन को, विशेषकर वेदान्त को एक स्पष्ट देन है।[20]

14- अनु. रामानंद तिवारी उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे, पृ. सं. 2-3
15- शांकर भाष्य 2/1/33
16- रानडे हिस्ट्री आफ् इंडियन फिलासफी भाग-2 पृ. सं. 332
17- शत. ब्रा. 6/1/1/8
18- शत. ब्रा. 10/3/5/11
19- शत. ब्रा. 8/4/1/4
20-उमेश मिश्रा भाग- 1 हिस्ट्री आफ् इंडिया फिलासफी पृ. सं. 78

ब्राह्मण ग्रन्थों में जीवन की जिस पद्धति का विधान किया गया है, वह सम्पूर्ण जीवन में केवल यज्ञादिक अनुष्ठानों का ही विधान करने वाली होने के कारण साधारण जिज्ञासु के लिए भी पूर्णतः संतोषप्रद नहीं हो सकती। अतः स्वाभाविक ही था कि तत्कालीन विचारकों द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित जीवन प्रणाली सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत न हो सकी। अतः उपनिषदों का आविर्भाव हुआ। उपनिषदों का दूसरा नाम रहस्यविदा कहा जाता है, जो अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय संस्कृति की सभी विचार धाराओं को जीवन प्रदान करती है। रानडे ने तो समस्त भारतीय चिन्तन के चरमोत्कर्ष के रूप में उपनिषदों को स्वीकार किया है। वास्तव में उपनिषदें शाश्वत ज्ञान की अक्षय भंडार हैं। सम्पूर्ण संसार में ऐसा कोई दर्शन नहीं है, जो इनसे प्रभावित न हुआ हो। सारी युक्तियां सारे तन्त्र, समस्तपुराण, सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान की विभिन्न धारायें, विद्या की समस्त श्रेणियां सभी इन उपनिषदों से ही निःसृत हैं। इनमें वर्णित विद्यायें कल्पना की ऊंची और सरस उड़ान मात्र नहीं हैं। एक सभ्य और समुन्नत जाति की सहस्त्रों वर्षों की गहन अनुभूतियाँ इसनें समाविष्ट हैं तथा ये सभी अनुभूतियां एक अध्यात्मिक अनुभूति का स्पष्ट संकेत विचारकों को प्रदान करती हैं। इनके रचइता तत्वद्रष्टा ऋषि थे। बहुत से ऋषियों ने इस अपूर्व ज्ञान भंडार की समृद्धि में योगदान दिया है। अब तक प्राप्त उपनिषदों की संख्या एक सौ दो मानी गयी है किन्तु मुख्य अट्ठारह उपनिषद् ही प्रामाणिक माने गये हैं। इनमें बारह उपनिषदों अर्थात् ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न माण्डूक्य, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, श्वेताश्वेतर, ऐतरेय, कौषीतकी और मैत्री पर शंकर के भाष्य भी उपलब्ध हैं।

रानडे नें उपनिषदों का अत्यधिक व्यापक और गहन अध्ययन किया। इस संदर्भ में उन्होंने उपनिषदों के कालक्रम, संख्या, प्रतिपाद्य विषय एवं स्वरूप की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा कि " ईसा क पूर्व बारहवीं शती से लेकर छठीं शती तक का समय प्रायः उपनिषद् काल माना जाता है।"[21] उपनिषदों को उन्होंने दो

21–अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ. सं. 9

कालों में विभक्त किया है : प्राचीन उपनिषद् काल और नव्य उपनिषद् काल। प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत वे तेरह उपनिषद् मानते हैं जो ईश, केन, कठ, प्रश्न माण्डूक्य, मुण्डक, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वेतर, कौषीतकी, और मैत्री के नाम से जाने जाते हैं।

इसमें प्रायः एक दूसरे से उद्धृत अवतरण पाये जाते हैं।[22] इन तेरह उपनिषदों को रानडे ने पांच समूहों में विभक्त किया है :–

1– बृहदारण्यक और छान्दोग्य।

2– ईश और केन।

3– एतरेय, तैत्तिरीय, और कौषीतकी।

4– कठ, मुण्डक और श्वेताश्वेतर।

5– प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य।----

रानडे ने अपने इस कालक्रम विभाजन के अन्तर्गत बृहदारण्यक एवं कौषीतकी तथा एतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य उपनिषद् को प्राचीन काल की रचना माना है और ईश एवं केन उपनिषद् को अपेक्षाकृत परवर्ती काल की रचना माना है।

चौथे विभाग में कठ, मुण्डक और श्वेताश्वेतर के सम्बध में उनका कथन है कि '' यह सामान्यतः इन महान् काव्यमय उपनिषदों के पीछे गिनी जा सकती हैं।''[23] पांचवें विभाग में प्रश्नोपनिषद् जो अन्य उपनिषदों से पूर्व निरूपित, एकसूत्रता प्रदर्शित करती है, अन्तिम विभाग के अन्तर्गत समझनी चाहिए। मैत्री उपनिषद् प्रारम्भिक और पौराणिक युग के अत्यन्त निकट और माण्डूक्योपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में अन्तिम मानी जा सकती है।

22–अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ. सं. 11

23–अनु. रामानंद तिवारी उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण : पृ. सं. 12

कालक्रम निर्धारण एवं संख्या की व्याख्या के पश्चात् रानडे ने उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय और शैली का उल्लेख किया है। प्रतिपाद्य विषय के संदर्भ में इनका अभिमत है कि उपनिषदों ने अद्वैत सत्ता को ही स्वीकार किया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् के प्रारम्भ में हमें यह कथन मिलते हैं, ब्रह्म का स्वरूप क्या है? हमारा आधार क्या है? हम किससे प्रेरित या प्रभावित होकर इस संसार में प्रवृत्त होते हैं? यदि उपनिषदों में ऐसे बहुत से प्रसंग आये हैं जहां शिष्य गुरू के पास जाकर परमतत्त्व के ज्ञान [24] की इच्छा प्रकट करता है। बृहदारण्यक में बताया गया है कि उशस्त याज्ञवल्क्य के पास जाकर पूछते हैं कि "मुझे वह समझाओ जो ब्रह्म है, जो विद्यमान है, और हमसे परे नहीं है।"[25] इसी प्रकार की जिज्ञासा केनोपनिषद्, में भी परिलक्षित होती है। कठोपनिषद् में तो ऐसे प्रश्नों की भरभार ही है क्योंकि इसमें नचिकेता ने यम से तीन वर के बदले आत्मा एवं ब्रह्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान की अभिलाषा प्रकट की है। इस सम्बन्ध में रानडे का कथन है, "मनुष्य परमतत्त्व को जानने की इच्छा पूर्णतः तृप्त नहीं कर सका। इससे उन आधारभूत समस्याओं के समाधान की आवश्यकता बनी रही कि सत्य क्या है? आत्मा क्या है? इन समस्याओं का हल खोजते हुए उपनिषदों के दार्शनिक तत्वमीमांसापर विचार करने के लिए उद्यत हुए।"[26] उपनिषदों में वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ स्वतः ज्ञात हो जाता है।[27] इस प्रयास में प्रथम खोज सृष्टिशास्त्र के अन्तर्गत प्राप्त होती है, किन्तु वहां हल पाने में असफल होने पर उसे मनोवैज्ञानिक जगत् में खोजने का प्रयत्न किया। रानडे ने बताया कि फिर भी उनकी चरमसत्य की जिज्ञासा शान्त न हो सकी। "इस पहेली को हल करने का एक प्रयास उपनिषदीय ऋषि को परतत्वशास्त्र के हृदय में ले जाता

24–छान्दोग्य उपनिषद, 5/2/1

25–बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/4/1

26–रानडे: अनु. रामानंद तिवारी उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण पृ. सं 64

27–मुण्डकोपनिषद् प्रथम 1/3

है। जब कोई प्रज्ञात्मक उत्तर मिल जाता था, तो अगला प्रश्न यह होता था कि व्यावहारिक रूप से वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। आचार का क्या आदर्श हो सकता है, जिसके अनुशीलन द्वारा मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार प्राप्त कर सके।''[28] रानडे ने इस व्यावहारिक प्रयास का हल रहस्यवाद में बताया जो इसके बिना अर्थहीन है। '' उपनिषदीय दर्शन का चरमोत्कर्ष–रहस्यवाद ही है जैसा कि यह सभी दर्शनों का चरम है और जो यह नहीं समझता कि उपनिषदों का सृष्टि-शास्त्र, मनोविज्ञान, परतत्वशास्त्र, आचारशास्त्र आदि सब उनके रहस्यवादी सिद्धान्त के उपोद्घात मात्र हैं, वे उपनिषदीय तत्त्वज्ञान का रहस्य समझने में असमर्थ हैं।''[29]

रानडे ने इन्हीं सोपानों के अन्तर्गत उपनिषदीय दर्शन का अध्ययन किया और अपनी उपनिषदीय व्याख्या के संदर्भ में क्रमशः सृष्टिशास्त्र मूलक, मनोविज्ञानमूलक, परतत्वशास्त्रमूलक, नीतिशास्त्रमूलक और रहस्यवादमूलक सोपानों द्वारा इसकी विशद व्याख्या प्रस्तुत की।

जिस प्रकार ग्रीक दार्शनिकों ने क्रमशः जल, वायु, अग्नि, एवं आकाश आदि को सृष्टि का मूलतत्व बताया है ठीक उसी प्रकार का कथन रानडे ने उपनिषदीय दर्शन में सृष्टिशास्त्र के उल्लेख के संदर्भ में पाया है। रानडे ने ग्रीक दार्शनिकों की विधि का अनुकरण करते हुए उपनिषदीय दर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके अनुसार बृहदारण्यक उपनिषद् से जल को मूलतत्व के रूप में वर्णित पाया जिसमें बताया गया है, '' वस्तुतः सृष्टि के आदि में केवल जल की ही सत्ता थी। जल से सत्य का उद्भव हुआ। सत्य से ब्रह्म का उदय हुआ। ब्रह्म से प्रजापत्ति की उत्पत्ति हुई। प्रजापति से देवताओं की सृष्टि हुई। ये देवता केवल सत्यकी उपासना

28–रानडे, अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 49

29–रानडे, अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 50

करते हैं।''[30] उपर्युक्त कथन में यही संकेत निहित है कि सृष्टि के आदि में आत्मा अथवा पुरूष की सत्ता नहीं थी वरन् जल जगत् की आदि सत्ता है और उसी से सम्पूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। यह कल्पना बहुत कुछ ग्रीक दार्शनिक थेलीज के अनुरूप है क्योंकि उसने भी जल को समस्त वस्तु जगत् का मूलकारण माना है। जल के पटल वर विचरने वाली ईश्वरीय आत्मा की कल्पना की आवश्यकता उसको नहीं पडी। अतः रानडे ने स्पष्ट शब्दों में कहा, '' बृहदारण्यक उपनिषद् थेलीज की भांति ही जल को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूलकारण मानती है। उसमें जल की सृष्टि के आधार के लिए ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नहीं समझी गयी हैं।''[31]

जल के पश्चात् वायु को मूलतत्व के रूप में उपनिषद् में सर्व-प्रथम रैक्व ने ग्रहण किया। उसके अनुसार समस्त वस्तु जगत् का लय वायु में होता है। अतः वायु ही समस्त जगत् का मूल भी है। रैक्व का दर्शन ग्रीक दार्शनिक अनैक्जीमेण्डर के समान है। उसने भी वायु को समस्त वस्तुओं का आदि और अन्त माना है। रानडे ने कहा है कि '' रैक्व ने निश्चित रूप से यह नहीं कहा है कि वायु जगत् का मूलतत्व है वरन् इस बात का संकेत भर किया है कि वायु सम्पूर्ण वस्तु जगत् का अन्त है। यह वस्तुतः बडी अपरिपक्व कल्पना है।''[32]

रानडे ने अग्नि को वस्तु जगत् के मूल रूप में केवल कठोपनिषद् में एक बार प्रयुक्त पाया है जिसका कथन है कि अग्नि ने विश्व में अन्तः प्रवेश करके विविध स्वरूप धारण कर लिया।[33] रानडे ने इसे हेराक्लाइटस के सिद्धान्त के समानान्तर बताया। छान्दोग्य उपनिषद् में भी आदि पुरूप से अग्नि का उद्भव, अग्नि से जल और जल से पृथ्वीका

30– बृहदारण्यकोपनिषद. 5–5–1

31– रानडे, अनु. रामानंद: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 54

32– रानडे अनु. रामानंद: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 56

33– कठोपनिषद् 2–5

कथन [34] मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् और हेराक्लाइटस के कथन में अन्तर बतलाते हुए रानडे का कथन है, '' जहां हेराक्लाइटस अग्नि को सम्पूर्ण पदार्थों का मूल मानता है, वहां छान्दोग्योपनिषद अग्नि को आदिपुरूष से उत्पन्न मूल तत्त्व मानती है। छान्दोग्योपनिषद् परिणति की भावना पर अधिक जोर नहीं देती किन्तु हेराक्लाइटस के परिवर्तन प्रिय मन के लिए अग्नि परिणति की भावना का प्रतीक प्रतीत होती है।''[35]

उपरोक्त तीनों तत्त्वों के क्रमिक अध्ययन के पश्चात् उपनिषदों में आकाश से सृष्टि उत्पत्ति बतायी गयी। अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी थोडे बहुत स्पर्श जन्य हैं, किन्तु आकाश के मूलतत्त्व होने की कल्पना तक पहुँचने के लिए अधिक विकसित दार्शनिक विचार की आवश्यकता है। रानडे का कथन है कि, '' थेलीज, अनैक्जीमेण्डर, हेराक्लाइटस और एम्बीडोक्लीज में क्रमशः जल, वायु, पृथ्वी, और अग्नि के मूलतत्त्व होने की कल्पना पृथक्–पृथक् अथवा संश्लिष्ट रूप में पायी जाती है।'' अरिस्टोटिल के मतानुसार हम आकाश के चरमतत्व होने की कल्पना फिलालॉजसमय तक पहुँचने पर ही पाते हैं।[36] उन्होंने बताया कि छान्दोग्य में आकाश को मूलतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः रानडे ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि छान्दोग्य में इन अवतरणों के अनुकूल हमें आकाश को पूर्ववर्ती कल्पनाओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर चरमतत्व मानना चाहिए।[37]

उपनिषदों में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिनमें असत् को भी मूलतत्व बताया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में '' सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि में असत् की ही सत्ता थी, इससे सत् का उद्भव हुआ। सत् ने स्वतः अपना रूप विधान किया। इसलिए इसे स्वकृत और सुकृत भी कहा जाता

34– छान्दो. 6-8–4

35- अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ.सं.56-57

36-37– अनु. रामानंद तिवारी उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 56-57

है।[38] रानडे ने इस सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है '' जो भाष्यकार असत् ऐसी निषेधात्मक कल्पना को सम्पूर्ण वस्तुओं का मूलतत्व स्वीकार करना नहीं चाहते, उनका इस पद का अर्थ समझना उचित ही है कि आदि में असत् की प्रतीत्य सत्ता थी, न कि असत् कोई प्रत्यक्ष सत्ता थी, और ऐसे ही प्रतीत्य असत् से सत् की सृष्टि हुई।[39] बृहदारण्यक में भी बताया गया है कि प्रारम्भ में किसी की सत्ता नहीं थी।[40] रानडे ने प्लेटों तथा एरिस्टौटल के दर्शन में भी इसी तत्व का दर्शन किया। असत् को वस्तु जगत् का मूल मानने में छान्दोग्य में एक बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। '' आदि में एक असत् की ही सत्ता की। असत् ने अपनेको सत् के रूप में परिणत कर लिया। एक वर्ष तक वह इसी अवस्था में पड़ा रहा। तत्पश्चात् टूटा तो उसके दो भागों में से एक सोने का था तथा दूसरा चांदी का। चांदी का भाग पृथ्वी बन गया और सोने का भाग आकाश। अण्डे के जरायु से पर्वत श्रेणियाँ, उसके उल्व से नीहार और मेघ बन गये, उसकी धमनियों की सरितायें बन गईं, उसके अन्दर का द्रव पदार्थ समुद्र बन गया। इस अण्डे से जिसका उद्भव हुआ वह सूर्य था। जब सूर्य का उद्भव हुआ तो अभिवादन ध्वनि हुई।[41] रानडे का कथन है कि जिस प्रकार उसे एक विशाल मंजूषा भी मानने लगे थे, जिसका धरातल भूमि है, आकाश आवरण है, अन्तरिक्ष अन्तर्भाग है, दिशायें कोण हैं और उसमें एक अमूल्य कोश अन्तर्निहित है।[42]

असत् के मूलतत्व होने की प्राक्कल्पना के पश्चात् रानडे उपनिषदों में सत् की कल्पना का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में उन्होंने सत् को ही एकमात्र सत्ता के रूप पाया। यह असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं थी बल्कि एकमात्र सत् की कल्पना थी।

38- तैत्तिरीय उपनिषद् 2-4

39-40- अनु. रामानंद तिवारी:उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 58

41-छन्दोग्य उपनिषद् 3-19-1-3

42-छान्दोग्य उपनिषद् 3-15-1

इस आदि सत्ताने कल्पना की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, गैं प्रजोत्पादन करूं। ऐसी चिंतना करके उसने तेज की सृष्टि की। तेज ने इच्छा की कि मैं बहुरूप हो जाऊँ, मैं प्रजोत्पादन करूं और उसने जल की सृष्टि की।[43] इसी प्रकार छान्दोग्य में उत्पन्न[44] भी सत् से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। रानडे ने इसे एनैक्जीमेण्डर के कथन के अनुरूप होने के कारण बहुत ही मनोरंजक बताया। उनके अनुसार चरमनामवाद के स्वर में छान्दोग्योपनिषद् समस्त इतर पदार्थों को केवल "प्रतीत्य" अथवा दृश्य मात्र रखना चाहती है और केवल तीन तत्वोंके अस्तित्व के लिए ही द्वार खुला रखती है जिनका उद्भव आदि सत्ता से है। दार्शनिक दृष्टि से यह एक तत्व–त्रयात्मक अद्वैत है।[45]

इसी क्रम में रानडे ने प्राण को भी चरमतत्वके रूप में उपनिषदों में वर्णित हुआ पाया। छान्दोग्य में उषस्ति द्वारा चाकायण से परमतत्व के बारे में पूछे जाने पर यह उत्तर मिलता है कि प्राण में ही समस्त सत्तायें प्रवेश करती हैं।[46] रैक्व सिद्धान्त[47] का भी यही अभिप्राय प्राप्त होता है। प्राण इस प्रकार, समस्त सत्ता का मूल माना जा सकता है। इस प्रकार हम साधारण रूप से देखते हैं कि किस प्रकार शरीर की समस्त इन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान ग्रहण कर लेता है। रानडे ने उपनिषदों में ऐसे दो प्रामाणिक स्थल भी पाये जहां पौराणिक कथा शैली द्वारा प्राण की श्रेष्ठता का निदर्शन किया गया है।[48] प्राण को प्रलय का चरम आश्रय तथा समस्त पदार्थों का अन्त भी बताया गया है। आगे चलकर प्राण एक प्राणिशास्त्र मूलक मनोवैज्ञानिक

43– छान्दोग्य उपनिषद् 6–2–1–4

44– छा. उप. 6–3–2–3–, 6–4–1–4–

45– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनुवादक रामानंद तिवारी पृ. सं. 62

46– छान्दोग्य उप. 1/11/5

47– छान्दोग्य उप. 4/3/3

48– छान्दोग्य उप. 5/1/6–15

परतत्व कल्पना मान लिया जाता है। कौषीतकी उपनिषद् प्राण को स्पष्ट रूप से " आयु " से एकरूप कर देती है। पुनः प्राण को प्रज्ञा से एकरूप बताया है और अन्त में कौषीतकी उपनिषद् ने अजर अमर आत्मा से प्राण का तादात्म्य स्थापित कर दिया जिसका सत् और असत् कर्मों के कारण वृद्धि तथा क्षय नहीं होता।[49] " परिणामतः प्राणिशास्त्र के अनुसार प्राण ही आयु है। मनोवैज्ञानिक दृष्किोण से प्राण प्रज्ञा है और परतत्वशास्त्र की दृष्टि से प्राण आत्मा है। यह प्राण का दिव्य आदर्श निरूपण है।"[50]

अब सृष्टि विधान के पौरूषेय पक्ष का वर्णन अपेक्षित है। उपरोक्त वर्णन अपौरूषेय पक्ष का था जिसमें बतलाया गया है कि अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश इन पंचमहा भूतों में से एक अथवा सभी को, अथवा सत्पौसी परतत्व मूलक सूक्ष्म कल्पनाओं अथवा प्राणिशास्त्रमूलक मनोवैज्ञानिक कल्पना को वस्तु जगत् का मूलाधार मानते हैं। अब सृष्टि रचना के लिए किसी पौरूषेय विधाता के अस्तित्व की आवश्यकता समझी गयी जिसके अन्तर्गत सृष्टि के उद्भव एवं विकास का दृष्टिकोण प्रायः नैसर्गिक माना गया। प्रश्नोपनिषद् में विप्लाद ने बताया है कि यह ईश्वर की सृष्टि निर्माण की स्वयं की इच्छा है।[51] इसी प्रकार तैत्तिरीय में भी बताया गया है कि स्वयं विधाता ने सृष्टि के आदि में विधाता ने तय किया और तय के उपरान्त समस्त वस्तु जगत् की रचना की[52] जिसकी आज सत्ता है। रानडे का कहना है कि " यह स्पष्ट है कि दोनों ही अवतरणों में, जिन पर हमने विचार किया है, विधाता की कल्पना को स्थान दिया गया है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ये अवतरण तर्क संगति की दृष्टि से सृष्टि विधान के पूर्व की अपौरूषेय कल्पनाओं से अधिक विकसित रूप हमारे सामने रखते हैं।"[53]

49– कौषीतकी उप. 3/2–9

50– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 65

51– प्रश्नोपनिषद् 1/3–13

52– तैत्तिरीय उपनिषद् 2/6

53– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 67

इसके पश्चात् रानडे ने उपनिषदों में वर्णित आत्मा और मिथुन सृष्टि सम्बन्धी व्याख्या प्रस्तुत की। बृहदारण्यकोपनिषद् का उल्लेख करते हुए बताया कि आदि में पुरुष की ही सत्ता थी, बाद में एकाकी चिन्तन एवं भय के परिणाम स्वरूप आत्मा ने सोचा, ''यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं हैं तो मुझे क्यों भय करना चाहिए ? और किसका ? इस प्रकार आत्मा का भय दूर हुआ। और उसे एक अन्य सत्ता की आवश्यकता हुई और उसने अपने को दो भागों में विभाजित करके वह स्वयं पति और पत्नी के स्वरूप में परिणत हो गई।''[54] इस व्याख्या को रानडे ने वेतन सृष्टि में ही आत्मा द्वारा मिथुन सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या के संदर्भ में प्रस्तुत किया किन्तु जड़ सृष्टि की व्याख्या पूर्णतः इसकी परिधि के बाहर रह जाती है। अतः उसकी व्याख्या के लिए उन्होंने उपनिषद् के अन्य विचारों का आश्रय लिया।

उपनिषदों में विराद पुरुष के सहयोग से आत्मा द्वारा सृष्टि विधान का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्व प्रथम रानडे ने इसे एतरेयोपनिषद् में देखा जहां बताया गया है कि आदि में आत्मा की ही एकान्त सत्ता थी। आत्मा ने सृष्टि सृजन की इच्छा की। इस पर उसने स्वर्गोपरि, अम्मोलोक, दिव्य तेजस् पूर्ण स्वर्ग लोक, मृत्यु लोक और जलमय पाताल लोक इन चार लोकों की सृष्टि की। इन लोकों की सृष्टि के उपरान्त आत्मा ने प्रथम मूलतत्व आत्मा तथा विधेय विश्व के अन्तर्माध्यमिक विराद पुरुष की रचना आरम्भ की।[55] सृष्टि की सत्ता के विविध उपादानों की व्याख्या के प्रति सचेष्ट करते हुए रानडे का कथन है कि भिन्न भिन्न इन्द्रिय व्यापार अन्तर्माध्यामिक विराद पुरुष की व्यष्टिप्रकृति का अनुशीलन करते हैं। अन्त में निष्कर्षतः रानडे ने यह कथन प्रस्तुत किया, '' इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार जीव आत्मा की अन्तिम सृष्टि है और किस प्रकार अन्तिम जीव और ब्रह्म में परतत्वमूलक तादात्म्य है।''[56]

54– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 60
55– एतरेयोपनिषद् 1/1–3
56– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ .सं. 70

रानडे ने आत्मतत्व की अवधारणा के संदर्भ में उपनिषदीय कथन को ही पुष्ट किया है। उपनिषद् में बताया गया है कि आत्मा से प्रथम आकाश की, तथा आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। पुनः वायु से अग्नि की तथा अग्नि से जल की एवं जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।[57] रानडे के अनुसार उनमें समस्त पंचमहाभूतों की स्पष्ट और परिपूर्ण गणना प्रथम बार प्राप्त होती है और साथ ही हेराक्लाइटस के सांगतिक अधोमार्ग और उर्ध्वमार्ग के सिद्धान्त का भी आभास मिलता है। रानडे ने इसमें सृष्टि विधान के विपरीत सृष्टि संभूति के सिद्धान्त का भी दर्शन किया। उन्होंने उपनिषदीय भाष्यकारों द्वारा आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तुओं को माया मानने से इनकार किया। उनका मत है कि इस संदर्भ में अद्वैत वादी प्रयास मात्र एक पहेली है।

पुनः उन्होंने मुण्डकोपनिषद् के पौरूषेयवाद का उल्लेख किया जिसमें बताया गया है कि सृष्टि के आदि में एक दिव्य अमूर्तपुरुष वर्तमान था जो अज, अप्राण अन्मन, शुभ्र तथा अक्षर था। उससे ही प्राण, मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उसी से बहुविध देवता, देवदूत, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की सृष्टि हुई।[58] रानडे के अनुसार वास्तविक सेश्वरवाद का फिर भी इसमें अभाव रह गया क्योंकि मुण्डकोपनिषद् का यह अवतरण पौरूषेय को अपौरूषेय बतलाता है और वास्तविक सृष्टि के स्थान पर सम्भूति और उत्पादन का निदर्शन करता है।[59]

रानडे ने उपनिषद्कार को प्राचीनतम दार्शनिक तथा विशेषतः मनोवैज्ञानिक एवं चिन्तक माना है। अतः उनका मनोवैज्ञानिक क्षेत्र आधिभौतिक विकृत और आध्यात्मिक तीन भागों में विभाजित हुआ है। आधिभौतिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत सर्व प्रथम उन्होंने मन और पाचन क्रिया का उल्लेख किया जिसके अन्तर्गत बताया कि उपनिषद्कारों का

57– तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1

58– मुण्डकोपनिषद् 2–1–2–9

59–रानडे, अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 71

विश्वासं था कि मनुष्य के मन की प्रकृति उसकी पाचन क्रिया पर निर्भर है। उपनिषदों में मन भोजन से ही विनिर्मित समझा जाता था।[60] एक अन्य अवतरण में भी इसी प्रकार कहा गया है, " यदि भोजन पवित्र है तो समस्त वृत्तियाँ पवित्र हो जाती हैं। जब वृत्तियाँ पवित्र हो जाती हैं तो धारणा शक्ति दृढ हो जाती है। जब मनुष्य की धारणा शक्ति दृढ़ हो जाती है, तो वह समस्त लौकिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।"[61]

उपनिषदों में वर्णित अवधान और श्वास निरोध का उल्लेख करते हुए रानडे ने बताया कि ऐसे प्रयासों में हमारा अवधान मूल प्रक्रिया पर केन्द्रित हो जाता है और वह श्वासोच्छ्वास् जैसे गौण व्यापारों की ओर आकर्षित नहीं किया जा सकता। इसको ही कौपीतकी उपनिषद् में अन्तर्यग्य कहा गया है।[62] इसके साथ ही भयमीमांसा का कथन भी प्राप्त हुआ है। उपनिषद् में कई स्थानों पर कहा गया है कि आत्मन् को पहले भय हुआ था कि वह अकेला है फिर अद्वैत ज्ञान से वह मुक्त हो गया।[63] रानडे ने बताया कि उस मनुष्य की समस्त भय की भावनायें दूर हो जाती हैं जो अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है क्योंकि उसकी आत्मानुभूति में यह अभिप्रेत रहता है कि उसकी आत्मा के अतिरिक्त विश्व में और कोई दूसरी सत्ता नहीं है जो भय का कारण बन सके।"[64]

उपनिषदीय मनोविज्ञान से सम्बद्ध एक और महत्पूर्ण विषय छान्दोग्यउपनिषद् का संकल्प और प्रज्ञा की परस्पर श्रेष्ठता की अधिकार भावनाओं का निरूपण है। रानडे ने इसमें संकल्पवाद और

60– छान्दोग्य उपनिषद् 6–5–4

61– छान्दोग्य उपनिषद् 7–26–2

62– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 78

63– तैत्तिरीयोपनिषद् 2–4

64– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ.सं. 79

प्रज्ञावाद में विरोध देखा। प्रज्ञा की श्रेष्ठता छान्दोग्य उपनिषद् में प्रतिपादित की गयी है।[65]

रानडे का कथन है कि यहां संकल्पवाद प्रज्ञावाद को स्थान दे देता है। मैत्री उपनिषद् में भी एक स्थान पर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, जहां उपनिषद्कार चिन्तन पक्ष में मन की समस्त मानसिक विकारों का उद्गम और स्त्रोत बतलाता है।[66] उपनिषद् में मनोवृत्तियों का वर्गीकरण भी प्राप्त होता है। रानडे के अनुसार संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, घृति, मति, मनीषा, स्मृति, संकल्प ऋतु, प्राण, जीवनाशा, काम और आत्मसंचय ये सब प्रज्ञा के ही विविध रूप हैं। इसलिए ऋषि की विचारधारा की प्रज्ञात्मक प्रकृति इसी से स्पष्ट है कि वह प्रज्ञा को समस्त मानवीय व्यापारों का उद्गम और स्त्रोत मानता है।

विकृत मनोविज्ञान के अन्तर्गत रानडे ने सर्वप्रथम छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित मृत्यु मीमांसा की व्याख्या प्रस्तुत की जिसमें मनुष्य की मृत्यु के बाद आत्मा की दशा का वर्णन मिलता है। रानडे ने इसके लिए कठोपनिषद् के यम नचिकेता संवाद का वर्णन किया जिसमें बताया गया है कि यम ने भी इस प्रश्न का उत्तर देने में काफी असमर्थता व्यक्त की थी। इस क्रम में आगे चलकर रानडे ने निद्रामीमांसा एवं स्वप्न मीमांसा के माध्यम से उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित आत्मा की ही एक मात्र सत्ता को प्रस्तुत किया।

उपनिषदों में वर्णित आध्यात्मिक मनोविज्ञान की चर्चा करते हुए रानडे ने उपनिषदों में आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप का उल्लेख-किया जिसके अन्तर्गत उन्होंने बताया कि आध्यात्मिक मनोविज्ञान ने शरीरके उस अंग अथवा उन अंगों की विवेचनासे, जिनसे आत्मा का प्रधान सम्पर्क है, सम्बन्ध रखा है। प्रो. जेम्स का कथन है कि " किसी न किसी रूप से चेतना प्रत्येक वस्तु के प्रति वर्तमान है, जिससे उसका

65– छान्दोग्य उप. 7–5–1

66– रानडे, अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं 81

सम्बन्ध है। ' मैं ' ज्ञानतः मार्गशीर्ष नक्षत्र के प्रति वर्तमान है। अपने मस्तिष्क के प्रति मेरी सक्रिय सत्ता है, क्योंकि मेरे विचार तथा भाव उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करते जान पड़ते हैं। अस्तु यदि मन (आत्मा) के स्थान पर से अभिप्राय केवल शरीर के उस प्रदेश से है, जिससे उसका निकटतम तात्कालिक सक्रिय सम्बन्ध है, तो हमें अपने इस कथन की यथार्थता पर विश्वास है कि वह प्रदेश कहीं मस्तिष्क की बाह्य त्वचा पर है।''[67] उपनिषदीय मनोविज्ञान हृदय को आत्मा का स्थान मानने में अरिस्टॉटल से सहमत है। [68] रानडे का इस सम्बन्ध में कथन है कि ज्ञान केन्द्र तथा प्रज्ञान केन्द्रों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। जहां उपनिषद् का यह मत है कि आत्मा हृदय से मस्तिष्क की ओर चलकर ही इनपर प्रभुत्व स्थापित कर सकती है।[69]

आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में विशद् वर्णन प्राप्त होता है। अतः रानडे ने कहा, '' मैत्री उपनिषद् यद्यपि यह परवर्ती उपनिषदों के अन्तर्गत है, निमित्त कारण का प्रश्न उठाती है। और प्लेटो की रीति से आत्मा को क्रियात्मक शक्ति प्रदान करती है। उपनिषदों में इसका वर्णन रूपक द्वारा रथ एवं रथो के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उसमें शरीर रथ का संचालक आत्मा को ही बताया गया है। कौषीतकी उपनिषद् में भी आत्मा को समस्त शारीरिक वृत्तियों की स्वामिनी तथा समस्त ऐन्द्रिक व्यापारों की अधिष्ठात्री बताया गया है।[70] रानडे के अनुसार इस कथन से ज्ञात होता है कि किस प्रकार इन्द्रियां आत्मा पर निर्भर हैं तथा किस प्रकार आत्मा समस्त शरीर में परिव्याप्त है। [71] रानडे ने उपनिषदों में आत्मा की आयतनिक कल्पना का इतिहास भी देखा। उपनिषदीय कल्पना में इसका महत्वपूर्ण स्थान

67– प्रोफेसर जेम्सः प्रिन्सिपल आफ् फिजिकालोजी, पृ. सं. 214
68– हैमोन्डः हिस्ट्री ऑफ् फिजिकालोजी, पृ सं. 120
69– अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 92–93
70– कौषीतकी उपनिषद् 4–20
71– अनु. रामानंद तिवारीः उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं 94

है– " आत्मा जो समस्त सृष्ट और असृष्ट पदार्थों की स्वामिनी है तथा इसलिए किसी से भयभीत नहीं होती अंगुष्ठमात्र है तथा शरीर के मध्य-भाग (हृदय) में निवास करती है।"[72] छान्दोग्य उपनिषद् में अंगुष्ठ-मात्र के स्थान पर प्रादेश मात्र [73] का कथन किया गया है। उपनिषदों में आत्मा के सम्बन्ध में " अणो अणीयान् महतो महीयान्, " का कथन प्रस्तुत करते हुए कहा गया हैं कि आत्मा के आयतनिक कल्पना, मूलक सिद्धान्तों का न्याय संगत समन्वय इन्हीं विरोधाभासों में मिलता है और आत्मा को समस्त आयतनिक बन्धनों से परे मानने के अतिरिक्त इस कठिनाई से बाहर निकलने का और कोई मार्ग नहीं है। [74] उपनिषदों में आत्मा के कोश का उल्लेख करते हुए रानडे ने कहा कि केवल तैत्तिरीय में ही इस प्रकार के विचार निहित हैं। इसके दूसरे अध्याय में बताया गया है कि शरीर के अन्नमय कोश के अन्तर्गत एक प्राणमय कोश है, अन्नमय कोश प्राणमय कोश से परिपूर्ण है, जो मनुष्याकार है। प्राणमय कोश के अन्तर्गत मनोमय कोश है, प्राणमय कोश मनोमय कोश से परिपूर्ण है, जो मनुष्याकार है। मनोमय कोश के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश है। यह मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से परिपूर्ण है, जो पुरुषाकार है। अन्त में विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आनन्दमय कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश से परिपूर्ण है, जो पुरुषाकार है।[75] रानडे ने बताया कि शंकराचार्य ने इन कोशों को स्वीकार अवश्य किया है परन्तु उन्होंने इसकी काल्पनिक सत्ता को ही माना है।

रानडे के सम्पूर्ण उपनिषद् दर्शन के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि पुनर्जन्म की कल्पना आर्य है। भारतीय आर्यों में पुनर्जन्म की कल्पना का विकास ऋग्वेद से लेकर, ब्राह्मणों में होकर उपनिषदों तक बिना किसी अनार्य प्रभाव की अपेक्षा के देखा जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रो. मैकाडानल का कथन है,––

72– कठोपनिषद् 2-2-12
73- छान्दोग्योपनिषद् 5–18–1
74- अनु रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 98
75– तैत्तिरीयोपनिषद् 2-2-5

" यह अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है कि आर्यों ने इसकी प्रेरणा भारत के मूलनिवासियों से ग्रहण की थी। यद्यपि भारतीय आर्यों ने इस कल्पना का प्रतिग्रहण अनार्यों से किया, फिर भी उसको परम मुक्ति से सम्बद्ध एक जन्म मालिका के रूप में सुव्यवस्थित विस्तार देने का श्रेय आर्यों को ही मिलना चाहिए।"[76]

ऋग्वेद के दशम् मण्डल[77] में रानडे ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उल्लेख पाया है। उपनिषदों के अन्तर्गत उन्होंने कठोपनिषद् के एक अवतरण का उल्लेख किया जिसमें बताया गया है कि मैं वस्तुतः बहुत से लोगों का नेतृत्व लेकर परलोक जा रहा हूँ—, यमराज मेरा क्या करेंगे ?—मनुष्य अन्न की तरह पकता है और अन्न की भाँति ही पुनः उत्पन्न होता है।[78] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी पुनर्जन्म का कथन मिलता है।[79]

अपने ग्रन्थ के पंचम अध्याय में रानडे ने परतत्वशास्त्रपरक कथनों का उल्लेख प्रस्तुत किया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने बताया कि समस्त अध्यात्मिक उलझनों के अन्तर्गत एक परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि उपनिषदीय दर्शन का मूल रहस्य क्या है ? क्या हमारी कल्पना उपनिषदीय दर्शन के महासागर में उलझनों की उत्ताल तरंगों में ही भटकती रहेगी अथवा हमें अपनी दार्शनिक चिन्ताओं के सन्तुलन का कोई निश्चित अवलम्ब मिलेगा ? उपनिषदों में आत्मा को विश्व सत्ता के परमतत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है। इसके संदर्भ में रानडे ने सृष्टि विधान मूलक, ईश्वर शास्त्रमूलक और मनोवैज्ञानिक मार्गों पर प्रकाश डाला है। इनका कथन है कि " उपनिषद्कार आत्मा को परमसत्ता मानते थे और उन्होंने जगत् तथा ईश्वर को गौण स्थान दिया था। उनके लिए आत्मा, जगत् और ईश्वर सभी सत्य हैं। अन्त में

76- मेडोनेल; हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर पृ. सं. 387
77- ऋग्वेद 10-14-2, 10-58-1-12, 10-16-3,
78- कठोपनिषद् 1-1-5-6
79- बृहदारण्यकोपनिषद् 4-4-1-2

वे आत्मा और ईश्वर को एकरूप करके सत्य के ईश्वरमूलक तथा मनोविज्ञानमूलक पथों को एक कर देते हैं।[80] डॉ. केयर्ड का कथन है कि मनुष्य की निर्मित प्रकृतिके ही अनुकूल उसके लिए केवल तीन पथ खुले हुए हैं।'' वह अपने चतुर्दिक् बाह्य जगत् की और देख सकता है, वह ऊपर ईश्वर की ओर देख सकता है जो बाह्याभ्यान्तर दोनों का समीकरण है तथा अपने को दोनों में अभिव्यक्त करता है।[81] उन्होंने बाह्य जगत् का ज्ञान पहले बतलाया तथा बाद में ईश्वरीय ज्ञान। पुनः उन्होंने कहा कि मनुष्य अपने अन्तस् में देखने के पूर्व बाहर की ओर देखता है और ऊपर की ओर देखने के पूर्व वह अपने अन्तस् की ओर देखता है।[82]

रानडे ने आधिभौतिक उपादानों से शरीरशास्त्र के उपादानों की ओर अग्रसर होते हुए कहा है कि प्राकृतिक पुरुष की सरल कल्पना शक्ति के लिए नैसर्गिक शक्तियों को परमसत्य मान लेना स्वाभाविक है किन्तु घटनाओं के गम्भीर विचार और सूक्ष्म अन्तर्दर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक शक्तियां परमसत्य नहीं मानी जा सकतीं। पुनः उन्होंने कहा कि हम आधिभौतिक उपादानों को कान मूंद लेने पर भी सुनाई देने वाली ध्वनि आदि आधिदैहिक उपादानों की और बढ़ता हुआ पाते हैं।[83]

इसके पश्चात् आधिभौतिक से आधिदैहिक उपादानों तथा आध्यात्मिक उपादानों की ओर अग्रसर होने के मार्ग का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि हम आधिभौतिक तथा आधिदैहिक दोनों सदोष पद्धतियों की ओर से आध्यात्मिक उपादान तत्व प्रसुप्त चैतन्य की ओर बढ़ते देखते हैं। ईश्वर की सत्ता का आधिभौतिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए रानडे ने बताया कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। तैत्तिरीयोपनिषद् का एक अवतरण इसकी पुष्टि के संदर्भ में कहता है, '' वह जिससे समस्त

80– अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 164
81– डॉ केरिल: इवोलेशन आफ् रिलिजन, प्रथम, पृ. सं. 77
82– डॉ. केरिल: इवोलेशन आफ् रिलीजन, द्वितीय, पृ. सं. 2
83– अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 167

वस्तुओं का उद्भव है, वह जिसमें इन समस्तभूत पदार्थों की स्थिति है, जिसमें अन्ततः समस्तभूतपदार्थों का निलय हो जाता है, वही शाश्वत सत्य ब्रह्म है।[84] केनोपनिषद् में बताया गया है कि " वस्तुतः यह ब्रह्म की ही शक्ति है जो विद्युत में पलभर प्रदीप्त होकर झट् विलीन हो जाती है। यह ब्रह्म की ही शक्ति है जो हमारी आत्मा की चेतना और कल्पना के रूप में अपने को व्यक्त करती है तथा हमें कल्पना करने में समर्थ बनाती है।[85] रानडे ने बताया कि उपनिषदों में ईश्वर को परमज्योति कहा गया है और उसकी ज्योति से जगत् की समस्त वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार ईश्वर विश्व का सूक्ष्म सार है।

रानडे अपनी आधिदैविक विचारपद्धति के संदर्भ में उपनिषद् के अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद की ओर आते दिखायी पड़ते हैं। वे तब तक संतुष्ट न हो सके जब तक कि वे एक ईश्वर की कल्पना तक न पहुंच गये, जो समस्त संसार का शासक है। अन्त में उन्होंने ईश्वर को मनुष्य की अन्तरात्मा से एकाकार कर दिया। उनके ही शब्दों में उपनिषद् में ईश्वर के सगुण रूप की भी व्याख्या उपलब्ध है। ईश्वर के सगुण रूप वर्णन में श्वेताश्वेतरोपनिषद् में बताया गया है कि किस प्रकार ईश्वर संसार का एकमात्र कारण है और किस तरह वह अन्त में अन्तरात्मा से एकरूप है।[86] यहां फिर शुद्ध आधिदैविक उपादान आध्यात्मिक उपादानों के सामने गौण हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों के लिए सत्ता का अन्तिम उपादान ईश्वरात्मा है।

रानडे ने ईश्वर की सर्व व्यापकता और अतीन्द्रियता का भी उल्लेख प्रस्तुत किया। उनके अनुसार उपनिषदों में ऐसे कुछ अवतरण हैं जिनका प्रसंग केवल ईश्वर की सर्वव्यापकता से है तथा कुछ का सम्बन्ध केवल अतीन्द्रियता से है तथा कुछ में सर्वव्यापकता और अतीन्द्रियता का सम्मिलित प्रसंग मिलता है। रानडे के शब्दों में, " अस्तु विश्व

84– तैत्तिरीयोपनिषद् 3–1

85– केनोपनिषद् 3–4

86– अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 176

व्यापक ईश्वर को अन्तरात्मा से अभिन्न मानना चाहिए। उपनिषद्कारों के अनुकूल इस अभिन्नता तक पहुँचने पर ही हम सत्य की चरम कल्पना तक पहुँच सकते हैं।[87]

आध्यात्मिक विचार पद्धति के अन्तर्गत वे आधिदैहिक तथा आध्यात्मिक उपादानों के विश्लेषण जन्य आत्मा की कल्पना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि परम सत्य के विविध आधिदैहिक और आध्यात्मिक अधिष्ठानों के विषय में उपनिषदीय तत्त्वज्ञानियों के भिन्न भिन्न मतों की यह गणना तथा याज्ञवल्क्य के क्रमशः सबके खंडन में यह भाव अभिप्रेत है कि परमसत्य केवल आत्मा में ही पाया जा सकता है, संयोगिक अधिष्ठानों में नहीं जो आत्मा के आवरणमात्र हैं।[88] चेतना की अवस्थाओं का विभाजन करते हुए रानडे ने उपनिषदों में जाटति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं संवित्ती (तुरीय) चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। इन अवस्थाओं में प्रत्येक का उल्लेख पृथक् पृथक् रूप में उपनिषदों में विद्यमान है। रानडे का कथन है। "आत्मा की प्रकृति विशुद्ध आत्मानुभूति है, जो कान्ट के" मैं आत्मरूप हूँ की समान स्थिति है। जो परम आत्मा को शारीरिक चेतना से एकरूप मानते हैं वे भौतिकवादी हैं, जो स्वप्नगत चेतना से एकरूप मानते हैं वे भौतिकवादियों से कुछ ऊँचे अवश्य हैं, पर वे भ्रान्तिवश आत्मा को, जैसा कि आधुनिक थियासोफिस्टों का मत है, तेज पुरुष मानते हैं। दूसरी ओर जो आत्मा को सुषुप्तिगत चेतना से एकरूप मानते हैं, वे भी इसकी प्रकृति को समझने में भूल करते हैं, क्योंकि वस्तुतः इस अवस्था में हमें न आत्मा की चेतना होती है और न बाह्यजगत् की। वास्तविक आत्मा स्वसंवेद्य, स्वयं प्रकाशी, केवल आत्म चिन्तन शील है। एरीस्टाटल की परमकल्पना पुरुष तथा स्वयं चिरसाक्षी है।[89] इस संदर्भ में रानडे ने

87– अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 175

88– अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 175

89– अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 179

आत्मा की सत्ता का तत्ववाद मूलक प्रमाण उपनिषदों से ही ग्रहण किया जिनमें आत्म चेतना को सत्ता का चरम अधिष्ठान[90] बताया गया है।

एक महान् प्रश्न जो अब उपनिषदीय साधक के सामने उपस्थित होता है कि यदि आत्म चेतना परमसत्य है तो हमारे लिए उसकी अनुभूति किस प्रकार संभव है? का वर्णन करते हुए रानडे ने बताया कि विशुद्ध आत्मा चेतना केवल एक रहस्यात्मक अनुभूति की अवस्था में ही प्राप्त की जा सकती है। रानडे का कथन है कि उपनिषद् आत्मा को अज्ञेयवादियों के अर्थ में अज्ञेय नहीं समझती। उदाहरण के लिए उस अर्थ में जिसमें स्पेन्सर ने उसका ग्रहण किया है। वरन् उनके लिए दार्शनिक विनम्रता की दृष्टि से आत्मा अज्ञेय है।[91] आत्मचेतना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए रानडे ने आत्मचेतना के प्रज्ञात्मक और तात्त्विक महत्व की रहस्यात्मक महत्व से तुलना प्रकट करते हुए कहा है कि उपनिषदों का मत है कि केवल प्रज्ञा हमें आत्मचेतना की अनुभूति प्रदान करने में समर्थ नहीं है।[92] आत्मचेतना के ज्ञान पक्ष के संदर्भ में उनका मत है कि ज्ञानशास्त्र की दृष्टि से ज्ञान के विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में हमें आत्मा के ज्ञान को उपनिषद्कारों के आत्मा की भाँति अज्ञेय नहीं मानना है, भले ही इसके स्वरूप वर्णन में उन्होंने " नेति नेति " कथन का प्रयोग किया हों किन्तु अनुभूति द्वारा उसे सर्वथा ज्ञात बताया है। रानडे ने उपनिषदीय दर्शन के अनुसार आत्मा को अदृश्य मानते हुए उसे सनातन द्रष्टा के रूप में स्वीकार किया है। सनातन, आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने तत्त्ववाद मूलक प्रमाण प्रस्तुत किया जिसके अनुसार परम सत्य आत्मचेतना से एकरूप है। बिना आत्म चेतना के वे ईश्वर एवं परमसत्ता के कथन को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार उन्होंने आत्मचेतना को सत्ता का चरम अधिष्ठान माना है।

90– एतेरेयोपनिषद् 3–3, तैत्तिरीयोपनिषद् 2–1

91– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी : पृ. सं. 181

92– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी : पृ. सं. 180

रानडे ने आत्मवेत्तना के तात्त्विक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा कि केवल रहस्यवाद में प्रत्येक सिद्धान्त अपने निश्चित स्थान और धरातल पर आ सकते हैं। उन्होंने आत्मानुभव के विविध पांच सोपानों का उल्लेख किया।

प्रथम सोपान के अन्तर्गत इन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन प्रस्तुत करते हुए कहा कि यह रहस्यात्मक विधिद्वारा आत्मा के दिव्य तेज का अनुभव है।[93] द्वितीय सोपान में हमारे अन्तस् में अपने को 'मैं' कहने वाले पुरुष को यावदनुभूत आत्मा से अभिन्न मानना चाहिए। रानडे ने कहा कि हमें स्वयं को ही आत्मा मानकर शारीरिक, ऐन्द्रिक प्रज्ञात्मक अथवा भावात्मक कोश नहीं मानना चाहिए। मूल रूप से हम विशुद्ध आत्मा से अभिन्न हैं।[94] तृतीय सोपान के अन्तर्गत उपनिषदों में बताया गया है कि हमारी आत्मानुभूत आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है।[95] चतुर्थ सोपान में "त्वम्" भी ब्रह्म से विनिर्गत होने के कारण उससे अभिन्न माना गया है।[96] रानडे ने अब "अहं और त्वं" दोनों को ब्रह्म से अभिन्न मानने के पश्चात् पांचवे सोपान में मन और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा समान रूप से ब्रह्म हैं,[97] का उल्लेख किया है। उन्होंने इसे पूर्ण अद्वैत का स्तर बताकर इसकी स्थिति को प्रज्ञागम्य बताया। उनके शब्दों में इसका निर्णय इस पर निर्भर है कि हमारी प्रवृत्तिकी नियति इस आध्यात्मिक मात्रा पथ पर केवल प्रकाश-वाहक अथवा आत्मज्ञानी होना है।

अतः यह स्पष्ट हुआ कि यह स्थिति प्रज्ञापथ की अपेक्षा रहस्यवाद के मार्ग से अधिक सुसंगत है। रहस्यवाद की प्रवृत्ति स्थिति के पूर्ण ज्ञान में सर्वथा अद्वितीय है। यह मार्ग साधक के लिए सुगम्य, सुस्पष्ट एवं वरेण्य है।

93–बृहदारण्यकोपनिषद् 2/3/5
94–उपनिषदोंका का रचनात्मक सर्वे. रामा ंद तिवारी : पृ. सं. 185.
95 -बृहदारण्यकोपनिषद् 2/5/19
96–छान्दोग्य उपनिषद् 6/8/7
97–छान्दोग्य उपनिषद् 3/14/1

रानडे ने ग्रन्थ के छठवें अध्याय में नीतिशास्त्रपरक तथ्यों का उल्लेख प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार उपनिषदों का नीतिविषयक सिद्धान्त एक ओर वेदान्त तथा दूसरी ओर रहस्यवाद से सम्बद्ध है। यद्यपि यह निश्चित करना कठिन है कि मनुष्य के मानसिक विकास में नीतिशास्त्र और रहस्यवाद में किसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण है ? परन्तु फिर भी मनुष्य के परम मानसिक विकास के लिए प्रज्ञात्मक तत्व को नैतिकतत्व से और नैतिक तत्व को रहस्यात्मक तत्त्व से पृथक् करना बिल्कुल असंभव है। रानडे के शब्दों में. '' प्रज्ञाबिना किसी नैतिक आधार के बुद्धि वैदग्ध्य के कुशलतम रूपों में प्रतित हो सकती है और एक नीतिहीन रहस्यवादी, यदि ऐसा व्यक्ति संभव है, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में कलंक रूप में केवल एक भयंकर जीव होगा। जिस प्रकार नीति पूर्णतयः तर्कसंगत होने के लिए दृढतापूर्वक बुद्धि से सन्बद्ध होनी चाहिए उसी प्रकार नीति को अपने परिपूर्ण पर्यवसान के लिए आध्यात्मिक होना चाहिए, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य और अन्तिम ध्येय है।[९४]

नैतिक आदर्शों के सिद्धान्तों में रानडे ने कम से कम दो को अत्यन्त महत्वपूर्ण बताया जो आनन्दवाद और अध्यात्मवाद के नाम से जाने जाते हैं। यद्यपि उपनिषदों में नैतिक आदर्श के विषय में अनेक सिद्धान्त द्रष्टव्य हैं; जैसे कठोपनिषद् का सुखविरोधवाद जिसमें बताया गया है कि लोक में दों मार्ग हैं एक श्रेयस् तथा प्रेयस् आदि। श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मार्गों में से एक का वरण मनुष्य को अपने विवेक द्वारा करना पड़ता है। इन्हीं दोनों मार्गोंसे क्रमश : जीवन में आशा एवं निराशा का संचार होता है जो आगे चलकर शान्तवाद एवं निराशा वाद में परिणत हो जाते हैं। कठोपनिषद् का कथन है, कि क्षणभर के अमर जीवन की आनंदानुभूति के सामने भी ऐन्द्रिक सुख के दीर्घ जीवन की कामना तुच्छ होती है। इसकी और अधिक सुस्पष्ट अभिव्यक्ति मैत्री उपनिषद् में हुई है जहां लोभपूर्ण जीवन के व्यापक दुःख की ओर ध्यान दिलाते हुए तथा

98–अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 187

समस्त वस्तुजगत् की क्षणिकता की अत्यन्त काव्यमय अभिव्यंजना करते हुए जीवन को शाश्वत् दुःख का कारण बताया गया है। रानडे ने इस निराशावाद के ही निकट संन्यास, सत्याग्रह और शान्तिवाद को पाया। उनके शब्दों में '' जब तक मनुष्य जीवन के प्रति अपनी अभिरुचि के क्षय का अनुभव नहीं करता तब तक उसे संन्यास वृत्ति की शरण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब उसका हृदय शाश्वत् की ओर आकर्षित होने लगता है तभी उसे संन्यास जीवन की इच्छा होती है।'' रानडे ने उपनिषदों में आध्यात्मिक कर्मयोग [99] का भी उल्लेख पाया जिसके आधार पर उन्होंने कहा है, '' हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमें संन्यस्त जीवन व्यतीत करना चाहिए। वह केवल असार और शून्य ऐन्द्रिक जगत् से प्रतिक्रिया जन्य परांगमुखता तथा निर्वेद है, फिर भी उसके अन्तर्गत आत्मानुभूति का सार हो सकता है ---। वस्तुतः व्यक्ति का आत्मगत जीवन एक गम्भीर आध्यात्मिक कर्ममय जीवन है, न कि विविक्त और शान्त जीवन है जैसा कि यह अन्य मनुष्यों को प्रतीत हो सकता है। [100]

उपनिषदों में रानडे को आनंदवाद का दर्शन हुआ जिसके आधार पर उन्होंने अपना आध्यात्मिक दर्शन स्थापित किया। उनके शब्दों में आधिभौतिक श्रेय भी उनके लिए आनन्द का ही एक पथ है और आध्यात्मिक श्रेय उसका परमपर्यवसान।''[101]

पुनः उन्होंने कहा, '' यदि संक्षेप में अकामता सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, तो यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि परमानन्द को भौतिक आनंद के परिणामों से तौला जा सकता है। अस्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक आनन्द भौतिक सुख से भिन्न है।''[102]

99–मुण्डकोपनिषद् 2/2/5–6, वृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/23 तु. 8/074

100–अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 194–95

101–वही. ,, ,, ,, पृ. सं. 196

102–वही ,, ,, ,, पृ. सं. 198

परमानंद के वास्तविक आधार की खोज एवं अनुभूति के संदर्भ
ानडे ने उपनिषदीय कथनों को स्वीकार किया तथा उसमें वर्णित
मानुभूति के विभिन्न पहलुओं का मूल्यांकन सतर्कतापूर्वक किया तथा
का मत है कि आत्मानुभूति हमारी अन्तरात्मा का उद्भावन और
क्ष दर्शन है, न कि मनुष्य की प्रज्ञात्मक, भावात्मक और नैतिक
द विविध अन्तः प्रवृत्तियों का प्राणहीन तथा निस्सार अनभव।[103]
: उन्होंने केवल आत्मा को ही अपनी कामना का उपादान मानना
या। उपनिषदों में भी ध्वनित होता है कि जो आत्मा की इस रूप
उपासना करता है उसकी किसी प्रिय वस्तु का नाश न होगा।[104]
मानुभूति के संदर्भ में उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन प्रस्तुत
या जिसमें बताया गया है कि आत्मा का दर्शन करना चाहिए। श्रवण
ना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, क्योंकि दर्शन,
ण, मनन और ध्यान से ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[105]

रानडे ने आत्मानुभूति के नैतिक, आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक
का उल्लेख करते हुए बताया कि छान्दोग्य उपनिषद् में आनन्द को
ष्य का अनन्तर्दर्शन बताया गया है। उपनिषदों में आनन्दवाद को
ा और अल्प दो भागों में विभक्त किया गया है। उपनिषद्कार का
ान है कि जो इस प्रकार अनन्त महान और आत्मा की त्रितत्त्वात्मक
ता का अनुभव करने लगता है और "सोऽहमात्मा" के सत्य का
ुभव करता है, वही परमानंद का अधिकारी होता है।[106]

उपनिषदों में व्यावहारिक नीतिशास्त्र का भी वर्णन हुआ है।
ारण्यकोपनिषद् में सद्गुण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि
, दान, दया तीन प्रकार की भिन्न भिन्न मनोवृत्ति प्रधान मनुष्यों के

103- रानडे: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी, पृ. सं. 198

104- बृहदा. 1/4/8/, 4/3/21,

105- बृहदा. 2-4-2-5

106- अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 201

लिए तीन अलग अलग गुण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में सद्गुण के साथ ही दुर्गुण का भी उल्लेख किया गया है। उपनिषदों में सत्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि सत्य में मृत्यु से भी बचा लेने की शक्ति है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार संसार में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य देवता का पथ प्रशस्त करता है जिसके द्वारा वे ऋषि लोग जिनकी समस्त कामनायें तृप्त हो चुकी हैं, परम सत्य के लोक को जाते हैं।[107]

रानडे के अनुसार उपनिषदों में संकल्प स्वातन्त्र्य की धारणा भी मिलती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य काम, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है, जैसी उसकी कामना होती है वैसे ही उसके संकल्प होंगे, जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे, तथा जैसे उसके कर्म होंगे वैसे ही फल वह प्राप्त करेगा।[108] कौषीतकी उपनिषद् में उन्होंने ईश्वरायत्तवाद का[109] वर्णन पाया। रानडे ने उपनिषदीय कथन का समर्थन करते हुए कहा, "यद्यपि वास्तव में स्वतन्त्रता आत्मानुभूति से पहले मनुष्य का अधिकार नहीं हो सकती, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि उसपर आत्मानुभूति के बाद मनुष्य का अधिकार हो जाता है।[110] अन्यत्र इसका विरोध भी देखा गया है। कौषीतकी उपनिषद् का कहना है कि मनुष्य ईश्वर के हाथ की कठपुतली है वह यदि मनुष्य की उन्नति करना चाहता है तो उससे सत्कर्म करवाता है, और यदि उसका पतन चाहता है तो उससे पाप कर्म करवाना चाहता है।[111] रानडे ने उपनिषद् के इन सभी सिद्धान्तों का समन्वय अपने रहस्यवाद में किया जिसमें उन्होंने बताया है कि ईश्वरीय अनुकम्पा का होना परमावश्यक है फिर भी हमें प्रयास करना पड़ता है और यह प्रयास संकल्प स्वातंत्र्य द्वारा ही पुष्ट समझा जायेगा।

107– अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 206
108– बृहदारण्यकोपनिषद् 4–4–5
109– कौषीतकी उ. 3–9,
110– अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 207
111– कौषीतकी उप. 3–9

उपनिषदों में आदर्श ऋषि के लिए इन महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है। उनके अनुसार वह उस मनुष्य को जो समस्त वस्तुओं को आत्मरूप समझता है उसके लिए शोक या मोह का कोई अर्थ नहीं है।[112] रानडे ने इस तथ्य का स्वीकार करते हुए कहा है कि जो शाश्वत् शान्ति प्राप्त कर लेता है सचमुच उसने परमेश्वर का संग्रह कर लिया है। कठोपनिषद् में बताया गया है, " योग साधन ब्रह्म चिन्तन के द्वारा मन और बुद्धि के सहित उसकी समस्त इन्द्रियां स्थिर और निश्चल हो गयीं और आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेने के कारण उसने शाश्वत् आनन्द को प्राप्त कर लिया है।[113]

अब यह परम आध्यात्मिक परिपूर्णता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है किस प्रकार नीति का पर्यवसान रहस्यवाद में होता है इसका उल्लेख रानडे ने अपने अगले अध्याय अर्थात् रहस्यवाद में विधिवत् किया है।

प्रायः उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार के रहस्यात्मक निर्देश अलग अलग रूपों में प्राप्त होते हैं, जो प्रज्ञात्मक आवरणों द्वारा आच्छादित हैं तथा जिनकी अमूल्यता को कोई विशिष्ट ज्ञाता ही समझ सकता है। उपनिषद्कार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि बौद्धिक साधना किसी प्रकार भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती क्योंकि वह तर्कनिष्ठ है।

रानडे ने बौद्धिक शक्ति एवं स्फुटित विचार को अपरोक्षानुभूति का प्राथमिक लक्षण माना है। किन्तु वे परा और अपरा विद्या का अन्तर ग्रीक दार्शनिकों की भाँति अनुमान और सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। रानडे ने इसके लिए मुण्डकोपनिषद् के उस श्लोक का आश्रय लिया जिसके अन्तर्गत कहा गया है— " संसार में दो प्रकार की विद्यायें संपाद्य हैं– अपरा और परा विद्या। अपरा विद्या वेद, व्याकरण,

---

112– ईषोपनिषद् 7
113– कठोपनिषद् 2-6-10-11

निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, आदि शास्त्रों का ज्ञान है, और परा विधा वह है जिसके द्वारा केवल अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है।[114] अन्त में, उपनिषद्कारों का आत्मसाक्षात्कार की समस्या के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण केनोपनिषद् में व्यक्त हुआ, जहां बतलाया गया है– यदि केवल आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया जाय, तो जीवन का परमलक्ष्य मनुष्य अपने भौतिक जीवन में ही प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यदि शरीर के जीवित रहने तक आत्मज्ञान प्राप्त न हुआ तो मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता कि मृत्यु के उपरान्त उसके लिए क्या क्या यातनायें भविष्य के अन्तर्पट में छिपी होंगी ?''[115] इस सिद्धान्त को रानडे ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया।

आत्मज्ञान की प्राप्ति कैसे संभव है ? इस प्रश्न पर सम्यक् विचार प्रकट करते हुए रानडे ने कठोपनिषद् के इस अवतरण का वर्णन किया जिसमें प्रथम आवश्यक गुण अनुकूल अन्तर्मुखी दृष्टि बतायी गयी है। ईश्वर ने हमारी इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है। यही कारण है कि मनुष्य अपने अन्तस् की ओर देखने की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक देखता है। अमरत्वकी कामना का साधक बिरला ही ज्ञानी पुरुष दृष्टि को अन्तर्मुखी बना पाता है।[116] अन्तर्मुखी दृष्टि के पश्चात् रानडे ने अगला सोपान आत्म शुद्धि का बतलाया। कठोपनिषद् में बताया गया है कि जब तक मनुष्य दुष्कर्मों का पूर्णतयः निरोध नहीं कर देता, जब तक वह पूर्णतयः शान्त और स्वस्थ नहीं हो जाता, तब तक चाहे कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो केवल बुद्धि क बल पर आत्मानुभव प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है।[117] इसी प्रकार का कथन अन्य उपनिषदों में भी प्राप्त होता है जिसमें इसी प्रकार के कथन विद्यमान हैं। रानडे का इस सन्दर्भ में कथन है कि आत्मानुभूति की अन्तर्मुखी वृत्ति, लोक निर्वेद, आत्म-

114– मुण्डकोपनिषद् 1–1–4–5
115– केनोपनिषद् 2–13
116– कठोपनिषद् 2–4–1
117– कठोपनिषद् 1–2–24

शुद्धि, नम्रता, शान्ति, सत्य, तप, अन्तर्दृष्टि सम्यक्ज्ञान, बल, कर्मनिष्ठा के जीवन का समर्थन करती है। जब तक इस स्थिति को प्राप्त न कर लें, तब तक आध्यात्मिक जीवन के साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिए।[118]

नैतिक सद्गुणों को पूर्णतया स्वीकार करने के साथ ही उन्होंने योग्य गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है। उपनिषदों में गुरुदीक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि " जब तक गुरु द्वारा आत्मसाक्षात्कार की दीक्षा नहों मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य प्राप्त नही कर सकता।[119] इसी तथ्य का वर्णन कठोपनिषद् में इस प्रकार उपलब्ध है कि " यदि धर्मगुरु वास्तव में उच्चकोटि का आत्मज्ञानी न हो तो आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई होगी और पुनः जब यदि दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु से ही ली जाती है जिसने आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर लिया है तो उस सूक्ष्म मार्ग के ज्ञान की कोई आशा नहीं की जा सकती जो तर्क और विवाद की शक्ति से परे है। तर्क कूटों में हमें अपनी बुद्धि का अपव्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना गुरु से दीक्षा प्राप्त किये हम आत्मज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ? "[120]

रानडे ने बताया कि सद्गुरु शिष्यको ध्यान का जो प्रत्यक्ष साधन बतलाता है वह उपनिषदों में एक मत से ' ॐकार ' बतलाया गया है। भारतीय दर्शन में ॐकार का वही स्थान है जो ईसाई दर्शन में ' लोगोस ' का है। उपनिषदों में ॐकार की चर्चा करते हुए कहा गया हैं कि " समस्त वेद जिस अक्षर की घोषणा करते हैं, जो समस्त तपों का साध्य है जिसकी प्राप्ति के लिए लोग ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, वह अक्षर तुम्हें वतलाता हूं। संक्षेप में वह ॐ है। ॐ परब्रह्म है। ॐ परम अक्षर। ॐ परम आश्रय है।[121] प्रश्नोपनिषद् का उल्लेख करते हुए

118- अनु. रामानंद तिवारी: उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 213
119- छान्दोग्य उपनिषद् 4/9/3
120- कठोपनिषद् 1/2/8 9
121- कठोपनिषद् 1-2-15-17

रानडे ने कहा जिस प्रकार सांप अपनी केंचुली से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रणव ध्यान करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है, और अपने जय की शक्ति से परम लोक को जाता है, जहां उस पुरुष के दर्शन करता है जो शरीर की सचेतन प्राण शक्ति है, और जो समस्त जीवन भूतों से परम श्रेष्ठ है।[122]

रानडे ने ज्ञानप्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान तो पुस्तकों से भी प्राप्त हो सकता है। इसके उत्तर में रानडे ने प्लेटो के कथन को प्रस्तुत किया जिसमें दोनों के तुलनात्मक मूल्य के रूप में एक को नितान्त निर्जीव तथा दूसरे को गुरु के परिपूर्ण विकसित जीवन का निष्कर्ष बताया गया है। रानडे का कथन है, " पुस्तकें परमार्थ के पथ की कठिनाइयों को दूर कर नहीं सकतीं, किन्तु सद्गुरु, जिसने उस पथ पर विचरण किया है, अपने उत्साही शिष्यको आध्यात्मिक पूर्णता की सोपान पंक्ति पर एक एक पद करके धीरे धीरे सम्हालकर ले जा सकता है।[123] रानडे ने इसके लिए आन्धगान्धार का भी दृष्टान्त प्रस्तुत किया।

उपनिषदों का लक्ष्य रानडे ने व्यावहारिक बताया। सर्वप्रथम इन्होंने इन्हीं उपनिषदों में योगसाधन द्वारा साक्षात् ब्रह्म प्राप्ति के व्यावहारिक प्रयोगों का संकेत बिखरा हुआ बताया है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव भी है तो क्या मनुष्य के पास कोई ऐसी अन्तर्वृत्ति है जिसके द्वारा वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है? इसके उत्तर में रानडे ने कठोपनिषद् के श्लोक के माध्यम से कहा कि यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृतरूप से सन्निहित है, वह सब के लिए प्रत्यक्ष नहीं, केवल सूक्ष्म दर्शी ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं।[124] इस सूक्ष्म बुद्धि के विषय में भी रानडे ने

122- प्रश्नोपनिषद् 5-1-5

123- उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी; पृ. सं. 214

124- रानडे, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 220

सम्भावना व्यक्त करते हुए गीता का उद्धरण प्रस्तुत किया है, जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार ब्रह्म समस्त इन्द्रियों और मन से परे है, उसी प्रकार वह बुद्धि से भी परे है। रानडे का कथन है कि जब शब्द ब्रह्म साक्षात्कार की अन्तःवृत्ति के स्वरूप का यथार्थ निदर्शन करने में असफल रहते हैं, तो सुविधा के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द बुद्धि अथवा अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह लीजिए आविष्कृत कर लेना और उसे ब्रह्म साक्षात्कार का उत्तरदायी बनाना उपयुक्त है। [125]

अतः ब्रह्म की इस सर्वव्यापकता का अर्थ यही है कि यदि मनुष्य पर्याप्त प्रयास करें तो वह अन्तस् में ही ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। रानडे के शब्दों में अपने अन्तस् में ही ब्रह्म प्राप्ति की संभावना ही आत्म शुद्धि और आत्मचिंतन की दीर्घप्रक्रिया द्वारा साधक के ब्रह्मान्वेषण की प्रेरक है। [126]

उपनिषदों में दिव्यरूप और दिव्यनाद का भी प्रसंग उपलब्ध होता है। "बृहदारण्यक उपनिषद् में परमार्थ पथ पर बढे हुए साधक को केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्निशिखा रक्तोत्पल, विद्युत के आकस्मिक आलोक आदि ऐसे ही दृश्य दिखायी देते हैं। यह अग्रगामी साधक के वैभव हैं।" [127] उपनिषदों में नादानुभव का वर्णन करते हुए रानडे का अभिमत है कि परमार्थ साधक कुछ अभ्यान्तरिक नादों का अनुभव करता है कि जिसका सम्बन्ध उन उपनिषद्कारों ने शरीर के अन्तर्गत संचालित होने वाली पाचन प्रक्रिया से [128] कर दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी ऐसा ही उल्लेख है कि अन्तर्यामी सत्यरूप आत्मा की सत्ता का निर्देश केवल कान मूंदने तथा वृषभ के डकारने के शब्द अथवा मेघगर्जन अथवा अग्नि की घोर आवाज के समान आवाज

125- रानडे, उपनिषदोंका रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 221-22

126- अनु. रामानंद तिवारी : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे, पृ. सं. 223

127- बृहदारण्यकोपनिषद् 2/3/6

128- बृहदारण्यकोपनिषद् 5/9/1 मैत्री. 216

सुनने से प्राप्त हो सकता है।[129] अतः रानडे ने यह सिद्ध किया। अनाहतनाद किसी सीमा तक शारीरिक स्थितियों पर निर्भर है किन्तु उसे शारीरिक स्थितियों का परिणाम कहना घोडे के आगे गाडी लगा देने के समान है। यद्यपि तेज एवं नादों का अनुभव पूर्णानुभूति के अग्रदूत कहे जा सकते हैं तो भी वे आत्मानुभूति के चरम बिन्दु नहीं हो सकते।[130]

आत्मानुभूति के प्रभाव पल का उल्लेख करते हुए उपनिषदों में कहा गया है कि आत्मानुभूति द्वारा साधक के हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं, उसके सन्देह छिन्न भिन्न हो जाते हैं, उसके कर्म फलों का नाश हो जाता है। तब वह परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है।[131] प्रो. रानडे ने बताया कि आत्मानुभूति की स्थिति का उल्लेख करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य को अपनी प्रियतमा के परिरम्भण के बाद अन्तर्बाह्य की किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा के परिरम्भण के बाद समस्त बाह्याभ्यान्तर वस्तुओं को भूल जाती है क्योंकि उसने वह लक्ष्य पा लिया है जिसके अन्तर्गत समस्त लक्ष्यों का समाहार है। वस्तुतः ब्रह्म की प्राप्ति के बाद और कुछ शेष नहीं रहता।[132] पुनः रानडे ने कहा कि तैत्तरीयोपनिषद् में उस असीम आनन्द का प्रामाणिक वर्णन मिलता है जिसका अनुभव सिद्ध योगी को ब्रह्म साक्षात्कार के बाद होता है। अन्त में रानडे ने समस्त उपनिषदों के आत्मानुभूति पल विषयक कथनोंका सारांश प्रकट करते हुए कहा, " इस प्रकार हम देखते हैं कि योगी पर आत्मानुभूति का तात्कालिक प्रभाव, शारीरिक उद्वेगों का पूर्ण उपशम, समस्त संशयों का समाधान, अनन्त शक्ति की प्राप्ति, अपरिमित आनन्द का उपभोग, सम्पूर्ण भय का नाश तथा प्रत्येक वाँच्छित फल की प्राप्ति है।"[133]

129–छान्दोग्य उपनिषद् 3–13–8

130–अनु. रामानंद तिवारी,उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे.पृ. सं. 224–25

131–मुण्डकोपनिषद् 2/2/8

132–बृहदारण्यकोपनिषद् 4-3-2

133-अनु. रामानंद तिवारी ,उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 229

अन्त में रानडे ने उपनिषदों में प्राप्त परमानंद के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया कि जब मुण्डकोपनिषद्कार को शाश्वत् ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया, तो उसको हृदय में परमानन्द का उद्रेक होने लगा, जब उसने देखा कि उसके सामने ब्रह्म है, उसके पीछे ब्रह्म है, उसके दायें ब्रह्म है और उसके बायें भी ब्रह्म है, उसके नीचे और ऊपर भी ब्रह्म है तो वह लाइबनीज के इस उद्गार में फूट पड़ा कि यह समस्त सम्भाव्य लोकों में सर्वोत्तम है। [134]

समस्त उपनिषदों के अध्ययन से रानडे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इनमें आत्मा के स्वरूप का वर्णन एवं तत्सम्बन्धी अनुतिभूयों के माध्यम से परमात्मा की प्राप्ति का ही उल्लेख हुआ है। उपनिषदीय वर्णन पद्धति से कतिपय दार्शनिक उसमें वर्णित आत्मा को अज्ञेय भी कहते हैं किन्तु रानडे का उत्तर है कि यह स्वीकार कर लेना भी कोई अतार्किक नहीं है। आत्मा अज्ञेय है इसलिए कि वह सदैव विषयी है। भला जो विषयी है वह ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है अर्थात् विषय का रूप कैसे व्यवहृत किया जा सकता है? इसकी पुष्टि के लिए वे याज्ञवल्क्य के कथनों की और ध्यान आकर्षित करते हैं जहां यह मत बहुत ही अच्छे ढंग से वर्णित हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि जिसके द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान होता है उसका ज्ञान किसके द्वारा हो सकता है? [135]

रानडे का विचार है कि उपनिषद् के इस मत को किसी रूप में योरोपीय दर्शन का अज्ञेयवाद न समझ लेना चाहिए। कभी कभी इसकी तुलना कांट के मत से की जाती है क्योंकि कांट ने भी कहा है कि ईश्वर और आत्मा उस रूप में अज्ञेय हैं जिस रूप में हम लोग ज्ञान का विषय कहते हैं। पर मूलतः दोनों में काफी अन्तर है। कांट के लिए

134- अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 229

135- बृहदा. 2/4/14

ईश्वर और आत्मा दोनों मात्र विश्वास की वस्तु हैं पर उपनिषद् में यद्यपि आत्मा को अज्ञेय बताया गया है फिर भी इसका अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है।[136]

रानडे ने अन्य दार्शनिकों की भाँति आत्मा के ज्ञेय एवं अज्ञेय स्वरूप के निरूपण में न उलझ कर उसके अपरोक्षानुभव द्वारा ज्ञान पर ही विशेष बल दिया। इसके लिए उन्होंने आत्मानुभूति का आश्रय लिया। उन्होंने आत्मा को ज्ञाता और ज्ञेय दोनों माना है।[137] अद्वैत वेदान्त में इस सिद्धान्त पर काफी तर्क वितर्क हुआ है। रानडे की विचारधारा उससे काफी प्रभावित है। शंकर का मत है कि बुद्धि द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है क्योंकि बुद्धि तो अनात्मक की श्रेणी में है। यदि आत्मा को किसी दूसरी वस्तु के सहारे जाना जाय तो उस दूसरी वस्तु के ज्ञान के लिए किसी तीसरी वस्तु की और तीसरी को चौथी से जाना जायेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा। अतः उन्होंने इस कठिनाई से बचने का एक ही मार्ग निकाला—— आत्मा को स्वप्रकाश मानना, जहां आत्मा को अपना ज्ञान स्वयं रहता है। दार्शनिक शब्दावली में उन्होंने इसे आत्म-प्रज्ञा कहा। उपनिषदों में इसका स्पष्ट संकेत है कि आत्मा को आत्मज्ञान के लिए किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती।[138] इस प्रकार आत्मा अद्वैत ज्ञाता है।

उपनिषदों के पदों और वाक्यों की व्याख्या के संदर्भ में रानडे का मत है कि उनमें सूक्ष्म अनुभव अथवा आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के कई स्तर निर्धारित किये गये हैं। जिसे यदि सम्यक् रूप से देखा जाय और उनका विश्लेषण किया जाय तो विकास के रूप में पांच मुख्य अनुभव प्राप्त होते हैं। प्रथम अनुभव वे बृहदारण्यकोपनिषद् के इस कथन से करते हैं जिसमें बताया गया है कि आत्मा के प्रकाश को हृदय के भीतर देखना

136–रानडे, उपनिषदोंका रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी, पृ. सं. 271

137–अनु. रामानंद, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 275

138– केन. 1/3

चाहिए।[139] इस कथन से ध्वनित होता है कि आत्मा अपने से भिन्न कोई दूसरी सत्ता के रूप में यहां प्रयुक्त हुई है। दूसरे, कथन में बताया गया है कि अपने को आत्मा का ही स्वरूप समझना चाहिए। इसे शरीर इन्द्रिय मन अथवा बुद्धि के रूप में नहीं समझना चाहिए।[140] तीसरा अनुभव भी इसी उपनिषद् के कथन में मिलता है जिसमें बताया गया है कि आत्मा को ब्रह्म समझना चाहिए।[141] आगे चलकर चौथे अनुभव के रूप में इसी उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि मैं ही ब्रह्म हूँ।[142] इसकी व्याख्या करते हुए रानडे का कथन है, " यदि हम लोगों की आन्तरिक सत्ता जो अपने को अहम् कहती है दूसरे वाक्य के अनुसार आत्मा है, और यदि यह तीसरे वाक्य के अनुसार बिल्कुल ब्रह्म ही है तो तार्किक निगमन के आधार पर अहम् ही ब्रह्म हुआ।"[143] यही तथ्य छान्दोग्य उपनिषद् में " तत्वमसि " के कथन द्वारा प्राप्त होता है। इन चार अनुभवों के पश्चात् पांचवा अनुभव सरल हो जाता है। अर्थात् जब विषय और विषयी दोनों ब्रह्म हैं, तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि संसार की सभी वस्तुएं ब्रह्म हैं। अतः छान्दोग्य उपनिषद् का कथन है कि सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।[144]

उपर्युक्त कथनों को पुष्ट करते हुए रानडे का कथन है, " यह दार्शनिक सीढी दर्शन की विचार धारा को कदम कदम बढ़ाते हुए हमें इस घुमावदार ऊँचाई पर पहुँचा देती है। निश्चय ही यह मत अद्वैत-वादी है।"[145] अतः रानडे स्पष्टतः यह मान लेते हैं कि उपनिषद् का मूलदर्शन अद्वैतवादी ही है और अपने इस कथन से थिबो, गफ और

139- आत्मा वा रे द्रष्टव्य : बृहदा. 2/4-5
140- आत्मानं विजानीयादयमस्मीति पुरुषः, बृहदा. 4-4-12
141- अयमात्मा ब्रह्म, बृहदा. 2-5-19
142- "अहं ब्रह्मास्मि" बृहदा. 1/4/10
143- उपनिषदोंका रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 277-78
144- 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', छान्दो. 3/14/1
145- उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 278

जैकोबी ऐसे विद्वानों के मतों का समर्थन करते हैं कि उपनिषदों का सर्वाधिक सन्तोषप्रद भाष्य शंकराचार्य का है। रानडे ने इसी मान्यता के आधार पर उसे अपने नव्यवेदान्तवाद की धारा से जोड़कर अद्वैतवाद को ही विकसित किया। उनका मत है कि अद्वैत मत है द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनों से आगे बढ़कर उसका समन्वय करता है। उनका निर्देश है कि उपनिषदों की व्याख्या करते समय "विकासमार्ग" का अनुसरण करें तो अनेकवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि विभिन्न मतमतान्तरों की उलझन में से निकलने का रास्ता स्वयं दिखायी पडेगा।

तृतीय परिच्छेद

गीता का ईश्वरानुभूति दर्शन

गीता का मूल स्त्रोत " महाभारत " महाकाव्य है, जो एक प्रकार का विश्वकोष है। गीता महाभारत की मुकुटमणि और विश्व संस्कृति का आधार है। यह ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र एवं आध्यात्मिक जीवन का दिव्य सन्देश है। इसके द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सहज ही सुलभ बताया गया है। गीता की सर्वतोमुखी शिक्षा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लोगों को उन्नति की ओर ले जाने वाली ज्योति है। श्री कृष्ण जगद् गुरु हैं। वे विश्वात्मा हैं, दिव्य प्रेरणा तथा आध्यात्मिक प्रकाश क केन्द्र हैं।[1]

यद्यपि भगवद्गीता बाह्य रूप से लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत लोक संग्रह का निष्काम भाव उपस्थित करती है। तथापि उसका हृदयगत ध्येय ईश्वरानुभूति है। गीता की दृष्टि में मानव सेवा ईश्वर सेवा नहीं है, अपितु वह ईश्वर सेवा में ही मानव सेवा समाहित करती है। श्री राजेश्वरानन्दजीका कथन है, " भगवत्प्राप्त पुरुष ही मनुष्यों की यथार्थ सेवा कर सकता है। मन, वाणी और कर्म से दिव्य तत्व का अनुभव एवं अभिव्यंजन ही जीवन का लक्ष्य है, वही जीवात्मा का गन्तव्य स्थान है।"[2] प्रायः जिन प्रश्नों के समाधान में मानवीय बुद्धि असमर्थ हो जाती है, उनपर गीता प्रचुर प्रकाश डालती है। यह विश्व का नियमन करने वाले आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं भौतिक नियमों का निर्देशन करती है। श्री कृष्ण स्वयं साक्षात् वह आत्मतत्व है, जो समस्त ज्ञान का केन्द्र एवं परिधि दोनों है। जगत् की लौकिकता के मोहक स्वरूप से परे दृष्टि डालना, अपने स्वरूप की अपनी स्वाभाविक

---

1 - कल्याण : उपनिषद् अंक, वर्ष 23, अंक 1 पृ. सं. 101

2 - कल्याण उपनिषद् अंक, वर्ष 23; अंक 1, पृ सं. 101

चरित्रगत विशिष्टताओं के सहज प्रवृत्तियों के संबन्ध में विचार करना, अपने अन्दर भगवत् तत्व को अभिव्यक्त करना यही गीता का मूल उद्देश्य है।

गीता का अध्यात्मिक अर्थ वाह्याचरणों का आडम्बर पूर्ण त्याग नहीं है। गीता के अनुसार संसार का चरम तत्व मानव है, मनुष्य का चरमतत्व ईश्वर है और ईश्वर का ज्ञान आत्मज्ञान से प्रकाशित होता है। आत्मतत्व का ज्ञान अहंकार की सीमा में नहीं ठहरता है। इसकी प्रतीति होती है। एकत्व का ज्ञान अहंकार की सीमा में नहीं ठहरता। इसको प्रतीति होती है एकत्व की अनुभूति में, उस नैसर्गिक एवं विशुद्ध ज्ञान की अवस्था में जो अन्तरतम एवं अपरोक्ष है, जहां जानने का अर्थ है वही बन जाना और वही बन जाना ही जानना है।[3] यहीं ईश्वरानुभूति दर्शन है।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत श्रुतियों के पश्चात् वेदान्त में स्मार्त-प्रस्थान के रूप में भगवद्गीता का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में भारतीय चिन्तन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था किन्तु उसके कुछ मूलभूत सिद्धान्त जैसे '' तत्वमसि '' और '' तज्जलान् '' आदि अपनी रहस्यात्मकता के कारण अस्पष्ट थे। स्वयं उपनिषदों ने उनके लिए '' परमगुह्य '' और '' गुह्य आदेश ''[4] शव्द का प्रयोग किया है। अतः उन्हें स्पष्ट रूप से प्रकट करने की महती आवश्यकता उत्पन्न हुई। श्रीमद् भगवद्गीता उपनिषदों का इसी प्रकार का लोकानुकूल संस्करण है। भगवद्गीता मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्यों एवं उनके मापदण्डों का सर्वग्राही, सरल एवं व्यंजक शैली में जिस प्रकार विवेचन करती है वैसा अन्य भारतीय ग्रन्थों में तो क्या, सम्पूर्ण विश्व साहित्य[5] में भी उपलब्ध नहीं है।

3– कल्याण उपनिषद् अंक, वर्ष 23, अंक एक, पृ. सं. 101

4– छान्दोग्य उपनिषद् 3–5–2

5– लोकमान्य तिलक– गीता रहस्य

भारतीय दर्शन वाङमय में गीता सम्पूर्ण प्राचीन धर्मग्रन्थों अर्थात् वेद, उपनिषद्, पुराण एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के सारतत्व के रूप में लोगों को दिशा देती आयी है। गीता के रचइता महर्षि व्यास ने इसकी गहन आध्यात्मिकता के स्वरूप एवं वर्णन शैली को इतना सुस्पष्ट एवं मार्मिक बना दिया है कि गीता की लोकप्रियता भारत वर्ष में ही नहीं अपितु पाश्चात्य दर्शनों में भी प्रेरणास्त्रोत के रूप में स्वीकृत है। लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, '' इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि हिन्दुस्थान की सब भाषाओं में इसके अनुवाद, टीकायें और विवेचन हो चुके हैं। परन्तु जब से पश्चिमी विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान होने लगा है तब से ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेजी आदि युरोप की भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।[6]

गीता एक दार्शनिक ग्रन्थमात्र नहीं है, अपितु यह सम्पूर्ण दर्शन शास्त्रों का नवनीत है जिसे उपनिषद् तथा विभिन्न दर्शन सिद्धांतों के सारतत्व के रूप में श्री कृष्ण ने अर्जुन एवं नैतिक संघर्षयुक्त प्राणियों को दिया है। इस आशय का पूर्ण स्पष्टीकरण गीता ध्यान[7] में अलंकारपूर्ण शैली में किया गया है। श्रीधर स्वामी ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है, '' श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् गोविन्द के मुखारविन्द की मकरन्दसुधा है। उपनिषद्रूपिणी धेनु के स्तनों का निर्मल सुस्वाद दुग्ध है अथवा यों कहें कि संपूर्ण वेदशास्त्रों का सारभूत निश्रान्त सिद्धान्त है।''[8] इसकी सबसे बडी विशेषता है कि इस ग्रन्थ में प्रस्थापित तथ्यों का महत्व आज भी पूर्ववत् बना हुआ है। क्योंकि यह धर्म के उस विश्वजनीन् रूप को प्रस्तुत करती है जो देश और काल की सीमाओं से परे है। गीता की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कि यह तत्वज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग, साधकों के लिए भक्तिमार्ग एवं कर्मयोगी के लिए कर्ममार्ग का निर्धारण करती है। इसीलिए यह ग्रन्थ शताब्दियों से

6– गीतारहस्य: लोकमान्य तिलक, 11 वां संस्करण पृ. सं. 2

7– सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दन :

8– श्रीमद् भगवद्गीता–श्रीधर स्वामी, (नम्रनिवेदन) पृ. 3

अध्ययन और अध्यापन का विषय बना रहा क्योंकि यह आध्यात्मिक मार्ग के मूलभूत सिद्धांतों पर बल देते हुए आद्योपान्त समन्वयात्मक भावना से अनुप्राणित है।[9]

गीता में प्रदर्शित विचारों को समझने के लिए परवर्ती 'दार्शनिको' एवं चिन्तकों ने उस पर भाष्य प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। गीता विषयक तथ्यों की पुनर्व्याख्या का यह प्रयास वेदान्त दार्शनिकों से प्रारम्भ हुआ। गीता पर जितने भी भाष्य एवं टीकायें प्रस्तुत की गयीं उनमें गीता के मूलभूत एवं सिद्धान्तों पर मतभेद हैं। मतभेद के कारण ही गीता की टीकाओं का अर्थ मूल ग्रन्थ से भिन्न प्रतीत होता है। मध्यकाल में संत ज्ञानेश्वर ने जो भाष्य प्रस्तुत किया वह 'ज्ञानेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त शंकराचार्य और रामानंद ने भी गीता पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। गीता के आधुनिक व्याख्याकारों में महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक, रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे, डॉ. राधाकृष्णन्, महात्मा गांधी एवं आचार्य विनोबा भावे आदि हैं। इन सभी व्याख्याकारों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से गीता की व्याख्या प्रस्तुत की।

रानडे ने भगवद्गीता की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके अनुसार गीता का सम्पूर्ण दर्शन ईश्वरानुभूति दर्शन है। इसमें प्रयुक्त भक्तिमार्ग का सुस्पष्ट निर्देश देते हुए उन्होंने गीता की शिक्षाओं का मूल आधार रहस्यानुभूति बतलाया।

सन् 1928 ई. में रानडे ने नागपुर विश्वविद्यालय के तत्वाधान में आयोजित समारोह में गीता पर जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, उसे विस्तृत करके सन् 1959 ई. में नागपुर विश्वविद्यालय से "द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन" नाम से प्रकाशित किया गया। पुस्तक के प्रारम्भ में रानडे ने कहा है, " मेरे

9– वेदान्तका विकास और स्वरूप / डॉ. महेन्द्र शेखावत, पृ. 37
प्रका. मध्यप्रदेश हि. ग्र. अ. भोपाल प्रथम सं. 1971

अनुसार भगवद्गीता की सर्वोत्कृष्ट शिक्षा ईश्वरानुभूति है जैसा कि प्रस्तुत कार्य का शीर्षक आगे प्रदर्शित करेगा। यह किसी भी दार्शनिक द्वारा जो अतीत में गुजर चुके हैं, सम्यक् रूप से प्रदर्शित नहीं किया गया।''[11]

रानडे की यह कृति मात्र गीता की मूल शिक्षाओं को ही प्रदर्शित नहीं करती वरन् परवर्ती व्याख्याकारों के मतों का परीक्षण एवं पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांतों से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करती है। उनकी यह कृति पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में उन प्राचीन प्रणालियों, जिनके साथ भगवद्गीता ने सहसम्बन्ध स्थापित किया है, का विवेचन है अर्थात् वेद उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र से गीता का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। द्वितीय अध्याय में उन मध्ययुगीन विचारोंका विवेचन है जिसमें भगवद्गीता का वेदान्ती भाष्यकार एवं आध्यात्मिक चिंतकों द्वारा इसके मुख्यार्थ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। तृतीय अध्याय में उस यथार्थ सत्य का निरूपण है। जिसे आधुनिक भाष्यकारों ने गीता की पुनर्व्याख्या के लिये प्रयुक्त किया था। ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में रानडे ने गीता के वास्तविक एवं मूलअर्थ के संदर्भ में अपने विचार प्रकट किये हैं। इसके अंतर्गत समसामयिक विचारों की समस्या के हल के लिए सुझाव भी प्रयुक्त हैं। वास्तव में यह अध्याय पुस्तक का केंद्र बिन्दु है। इसमें हमें रानडे की स्वतंत्र, अद्वितीय- एवं रहस्यवादी व्याख्या का दिग्दर्शन होता है। अन्तिम अध्याय में साधारणतः विचारों की उत्कृष्टता जो गीता में निरूपित है और जो प्रसिद्ध युरोपियन विद्वानों द्वारा दैवीय सत्ता के संदर्भ में स्वीकृत है, की महत्वपूर्ण विवेचना हुई है।

उपर्युक्त व्याख्या की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत पाश्चात्य मतों के संदर्भ में गीता के तथ्यों का समालोचनात्मक अध्ययन

11– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन : रानडे, (भूमिका) पृ. सं. 3

प्रस्तुत किया गया है। रानडे की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि वे गीता को भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के संदर्भ में ही नहीं बल्कि पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में भी देखना चाहते थे। अतः उन्होंने पाश्चात्य दर्शन की कसौटी पर इसके मूलभूत सिद्धान्तों को कसकर उसकी नवीनतम व्याख्या प्रदर्शित की। इसके अन्तर्गत रानडे के रहस्यवादी दर्शन का संकेत मिलता है। इन्हीं रहस्यात्मक विचारों को प्रकट करना एवं गीता के दशन को ईश्वरानुभूति दर्शन के रूप में प्रस्तुत करना रानडे का परमलक्ष्य था। प्रो॰ कुलकर्णी का कथन है, "अज्ञेयवाद, भक्तिवाद, कर्मवाद एवं दिव्यीकरण आदि सिद्धान्तों की अस्पष्ट व्याख्याओं का प्रो॰ रानडे ने गीता की रहस्यवादी व्याख्या में, स्पष्ट संकेत पाया है। उनके अनुसार गीता की परमोत्कृष्ट शिक्षा ईश्वर का परम साक्षात्कार है। वास्तव में गीता का दर्शन नीतिशास्त्र, परमसत्ता एवं दैवीय सत्ता का विश्लेषण आत्मा के दर्शन के संदर्भ में ही करता है।"[12]

गीता के ईश्वरानुभूति दर्शन को सम्यक्तया समझने के लिए रानडे कृत व्याख्या का उसी क्रम में अध्ययन करना अनिवार्य है जिस क्रम में उन्होंने इसकी रहस्यानुभूतिवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

गीता एवं उपनिषद् दोनों ही वेदान्त के प्रमुख प्रस्थान हैं। जहां उपनिषद् "नेह नानास्ति किंचन" "मृत्यों, स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" आदि वाक्यों से अद्वैत प्रणाली की स्थापना का प्रयत्न करती है। वहीं गीता में भी "यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति, पृथक्त्वेन तु यंज्ञानं-यंज्ञानं विद्धि राजसं" आदि वचनों द्वारा अभेद स्थापना का प्रयत्न करती है। गीता में भी इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी दोनों में समानता दिखलायी पड़ती है। रानडे यह मानते हैं कि गीता को उपनिषद् कहकर हम उसे सर्वोच्च सम्मान प्रदान कर सकते हैं।

12- ए क्रिटिकल एण्ड कन्स्ट्रक्टिव एस्पेक्ट्स आफ् प्रो. आर. डी. रानडेज् फिलासफी—वी. आर. कुलकर्णी : पृ. सं. 50

वे स्वयं गीता को " उपनिषदमृतम्[13] कहते हैं। वे कीथ तथा होप्किन्स का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि इन यूरोपीय लेखकों ने गीता को उपनिषद् कहा है, श्वेताश्वेतर उपनिषद् के ढंग का उपनिषद्।

गीता उपनिषद् भी कहलाती है। गीता के प्रत्येक अध्याय को पुष्पिका में " श्री मद्भागवद्गीतासूपनिषत्सु " शब्द की आवृत्ति हुई है। किन्तु इसका अर्थ " निषत्सु " कदापि नहीं है। क्योंकि गीता केवल उपनिषद् ही है। उपनिषद् के मूलदर्शन की रक्षा करते हुए गीता एक व्यापक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाती है क्योंकि इसकी दृष्टि धार्मिक आध्यात्मिक होने के साथ ही साथ व्यावहारिक, नैतिक मानवीय भी है।

उपनिषदों की मूल चेतना को आत्मसात् करने के कारण गीता तत्वतः समस्त उपनिषदों की ऋणी है अथवा उपनिषद् दार्शनिक गीता का दार्शनिक आधार है।[14] उपनिषदों की भाँति गीता भी परमसत्ता के ज्ञान के लिए आत्मगत और वस्तुगत विश्लेषण की सहायता लेती है। रानडे की मान्यता है कि उपनिषद् हमें वह दृष्टिकोण प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है जो हमारी वैज्ञानिक दार्शनिक एवं धार्मिक आकांक्षाओं को सन्तोष प्रदान कर सकती है। उनके ही शब्दों में, " उपनिषद् हमें विविध विचार सिद्धात प्रदान करती है और भारतीय दर्शन की समस्त परवर्ती पद्धतियों की जननी कही जा सकती है।[15] इसी प्रकार तथ्य को अन्यत्र भी उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा है।" अस्तु, हम उपनिषदों में बौद्ध और जैन दर्शन, सांख्य और योग मीमांसा, शैवमत, भगवद्गीता का सेश्वर रहस्यवाद, द्वैत वाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद सभी दर्शनों का मूल पाते हैं। विचारदर्शन के अध्ययन से समुद्भूत ऐतिहासिक

13– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड,रियलाइजेशन, रानडे, पृ. 38–39

14– इंडियन फिलासफी : राधाकृष्णन्, पृ. सं. 525

15– उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वे.; रानडे, अनु. रामानंद तिवारी, पृ. 120

प्रवृत्ति से अनुपूरित उपनिषदों का विचारपूर्ण मनन ऐसी भ्रान्त भावनाओं की शीघ्र ही दूर कर देगा। [16]

रानडे के अनुसार गीता में वर्णित तथ्यों का प्रत्यक्ष रूप से उपनिषदों से सम्बन्ध है क्योंकि उसी विषय का प्रस्तुतीकरण गीता में भी हुआ है। वर्णन–विषय, तर्क एवं शैली लगभग समान ही थी। इतना होने पर भी दोनों की परमतत्व सम्बन्धो धारणाओं में सूक्ष्म अन्तर का निर्देश रानडे ने किया है। उपनिषदों में ब्रह्म की धारणा के साथ संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के रूद्र, शिव, विष्णु, प्रजापति आदि सर्व-शक्तिमान देवताओं का एकीकरण नहीं है जबकि गीता के पुरुषोत्तम में इन सबका समन्वय [17] कर दिया गया है। उपनिषदों में परमतत्व को वार–बार ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है जबकि गीता में परमतत्व को पुरुषोत्तम वासुदेव, अव्यय, अक्षर आदि पदों में अभिहित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि गीता उपनिषदों के ब्रह्मवाद के साथ भागवतीय ईश्वरवाद से भी प्रभावित है।

रानडे ने उपनिषदों एवं भगवद्गीता में भाषा एवं भावों का साम्य समानरूप से प्रस्तुत किया है। उनके ही शब्दों में, " उपनिषद् एवं भगवद्गीता के सम्बन्ध की समीक्षा करते समय यह ध्यान में रखने योग्य है कि इस विषय का परिपूर्ण विवेचन इस अध्याय के एक अंग की छोटी सी परिधि में सम्भव नहीं है, फिर भी यहां पर उपनिषदों एवं भगवद्-गीता के सम्बन्ध में जो कुछ भी सत्य है यह इस श्लोक के माध्यम से ही उल्लेखनीय है।[18]

सर्वोपनिषदो गावों दोग्धा गोपालनन्दन :
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतमहत्।

16– उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वे. रानडे, अनु. रामानंद तिवारी, पृ. सं. 121

17– गीता अध्याय ग्यारह, श्लोक सं. 39

18– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, आर. डी. रानडे, पृ. सं. 29

रानडे का विचार है कि जिन तथ्यों को उपनिषदों ने वेदों से ग्रहण किया, उसी का रूपान्तर गीता के श्लोको में हुआ है। इन्होंने उपनिषदीय आधार से आगे भी भगवद्गीता के विकासमार्ग पर दृष्टि डाली है। रानडे के अनुसार ईशावास्योपनिषद् के दूसरे श्लोक जिसमें बताया गया है कि मनुष्य को अपना जीवन कर्मसाधना में ही व्यतीत करना चाहिए, से गीता के कर्ममार्ग का निरूपण हुआ है।

इससे भगवद्गीता को एक ऐसी महत्वपूर्ण मान्यता मिली, जिसके आधार पर कर्म योग का सिद्धान्त गीतादर्शन में प्रस्तुत हुआ। रानडे का कथन है, " जैसा कि हम उपनिषदीय नीतिशास्त्र के अध्ययन में कहेंगे, यह अवतरण हमें जीवन के उपादान साधन और ध्येय तो प्रदान करता है किन्तु इनमें उनको परस्पर सम्बद्ध करने वाली श्रृंखला नहीं मिलती।"[19]

कठोपनिषद् के एक अवतरण में रानडे ने मानसिक तथा शारीरिक सत्ता का मिश्रित रूप दृष्टिगत किया। " जहां उसकी ध्वनि है कि इन्द्रियों से परे अर्थ है, अर्थ से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे महत् है, महत् से परे अव्यक्त है और अन्त में अव्यक्त से भी परे पुरुष है जिससे परे और जिससे बाहर किसी की सत्ता नहीं है।"[20] इसी संदर्भ में गीता परोक्ष तत्वों का परित्याग करके मानसिक और आत्मानुभूतिपरक तत्वों द्वारा समाधान प्रस्तुत करती है। रानडें का अभिमत है, " इस प्रकार भगवद्गीता जहां हमें यह बतलाती है कि इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे पुरुष है, वहां वह महत् और अव्यक्त इन बाह्य जगत् के उपादानों को छोड़ देती है तथा केवल मनोवैज्ञानिक उपादानों को ग्रहण कर उस व्यवस्था को बहुत कुछ सुलझा देती है"।[21]

19–अनु. रामानंद तिवारी उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 134

20–कठोपनिषद् 13, 10-11

21– अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 135

गीता और उपनिषद् के सम्बन्ध में रानडे का निम्नलिखित तर्क बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनका कथन है, '' जो भाव-प्रवण प्रवृत्तियाँ उपनिषद् के सामान्यतः शुष्क प्रज्ञात्मक तर्क प्रणाली के विपरीत हैं, वे आगे चलकर गीता के सेश्वर तथा रहस्यात्मक दर्शन का आधार बन जाती हैं जिसमें उपनिषदों की शुष्क प्रज्ञात्मक कल्पनायें विलीन हो जाती हैं और हम काव्य और दर्शन का अपूर्व सामन्जस्य देखते हैं जो श्वेताश्वेतर उपनिषद् की उपासना अथवा गुरुवत् ईश्वर भक्ति को रहस्यात्मक जीवन का परमलक्षण बना देती है और जिसका परमध्येय परमात्मा की अनुभूति है।''[22]

उपर्युक्त तथ्यों से प्रतीत होता है कि गीता उपनिषदों से पूर्णतयः प्रभावित है। यही कारण है कि उपनिषदों के ब्रह्म के जो अवतार के रूप अकल्पनीय हैं, गीता क उपदेष्टा श्री कृष्ण स्वयं अर्जुन के समक्ष साक्षात् ईश्वर रूप में उपस्थित हैं। गीता और उपनिषद् की परमतत्व की धारणा में सूक्ष्म अन्तर यह है कि गीता ब्रह्म से पहले प्रकृति की उत्पत्ति बताती है जबकि उपनिषदों में तत्तेजोऽसृजत [23] आदि कथनों द्वारा ब्रह्म से तेज, आप आदि तत्वों का सृजन बताया है।

रानडे यह मानते हैं कि गीता को उपनिषद् कहकर हम उसे सर्वोच्च सम्मान प्रदान कर सकते हैं। वे स्वयं गीता को '' उपनिषदमृतम् '' कहते हैं। वे कीथ तथा होपकिन्स का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि इन यूरोपीय लेखकों ने गीता को उपनिषद् कहा है, श्वेताश्वेतर उपनिषद् के ढंग का उपनिषद्।[24] अतः गीता उपनिषद् भी कहलाती है। गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिकामें '' श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु '' शब्द की पुनरावृत्ति हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं है

22- अनु. रामानंद तिवारी, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 135

23- छान्दोग्य उप. 6-2-3=4

24- भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन : रानडे, पृ. स. 38-39

कि गीता मात्र उपनिषद् ही है। इसके अतिरिक्त गीता उपनिषद् के मूलदर्शन की रक्षा करती हुई एक व्यापक समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाती है क्योंकि इसकी दृष्टि धार्मिक, आध्यात्मिक, व्यावहारिक, और नैतिक है।

भगवद्गीता का सांख्य–योग दर्शन से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। यह अटूट सम्बन्ध प्रकाश की उन किरणों सा है जो उपनिषद् एवं वेद से निकलकर चतुर्दिक बिखर जाता है।[25] क्रमशः सांख्य और योग की पद्धतियों पर गीता के अन्तर्गत टिप्पणी प्रस्तुत की गयी है जिसका उल्लेख रानडे ने अपनी पुस्तक '' भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन '' के अन्तर्गत किया है। रानडे का विचार है कि जब भगवद्गीता सांख्य एवं योग के परमसत्ता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करती है, तो इसका तात्पर्य केवल भाषा विज्ञान सम्बन्धी तादात्म्य प्रस्तुत करना नहीं है। अपितु विचारात्मक तादात्म्य प्रस्तुत करना भी मुख्य लक्ष्य है। गीता की यह मान्यता है कि द्रष्टा वही है जो सांख्य और योग को एक और तादात्म्य[26] रूप में माने।

रानडे का कथन है कि जब भगवद्गीता का लेखक सांख्य और योग के बारे में विचार व्यक्त करता है, तो वह अपने मन में तीन विभिन्न विचारों को रखता है। पहला योग की तात्पर्य शक्ति को, दूसरे इसके प्रचलित अर्थ भक्तिभाव को और तीसरे इसके कर्मयोग सिद्धांत को। ये ही तीन विचार गीता में प्रतिपादित हैं। इसके बावजूद सांख्य और योग के विभिन्न मार्गों में सूक्ष्म अन्तर का निर्देश देते हुए रानडे कहते हैं, '' भगवद्गीता सांख्य को ज्ञानमार्ग के रूप में प्रस्तुत करती है, योग को कर्ममार्ग के रूप में जो निष्काम कर्म की स्थापना करता है।''[27] गीता में निष्काम कर्म का अर्थ संन्यास ले लेना नहीं

25– भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन : रानडे, पृ. सं. 23

26– भगवद्गीता : अध्याय 5 श्लोक सं. 5

27– भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे, पृ. स. 24

है। इसके अनुसार संन्यास और नैष्कर्म दोनों समरूप है। अतः हमें सांख्य को योग से और योग को सांख्य से अलग नहीं करना चाहिए। दोनों एक दूसरे में समाविष्ट हैं। इस सम्बन्ध को रानडे ने इस रूप में व्यक्त किया है, " वास्तव में सांख्य और योग का सम्बन्ध प्रायः दर्शन और रहस्यवाद की तरह ही है।"[28]

सांख्य और योग में वर्णित सृष्टि सम्बन्धी मतों का गीता में उसी क्रम में उल्लेख प्राप्त होता है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित, महत्, अव्यक्त, तन्मात्रा, त्रिगुण, पुरुष एवं प्रकृति का निरूपण उसी संदभ में प्रस्तुत किया है। सांख्य में बहुदेववाद का कथन है क्योंकि उसने अनेक पुरुषों की सत्ता स्वीकार की है। योग में भी बहुपुरुषों का कथन है जब कि गीता में उत्तम पुरुष का कथन मिलता है। यद्यपि गीता में भी अनेक पुरुष का कथन उपलब्ध है, फिर भी उन सभी में श्रेष्ठ एवं प्रमुख उत्तम पुरुष को ही माना गया है जिसे एक मात्र परमेश्वर[29] के नाम से अभिहित किया है।

अन्ततः रानडे " कैवल्य " के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इस सम्बन्ध में इन तीनों में मतभेद है। सांख्य का मत है कि इस अवरथा में पुरुष की ही सत्ता रह जाती है। प्रवृत्ति उसके लिए पूर्णतः विनष्ट हो जातो है।[30] इस प्रकार यह पुरुष और प्रवृत्ति के पृथक्करण सिद्धान्त को मानता है। योग मोक्ष का अर्थ परमात्मा की साक्षात् उपलब्धि से लेता है। उसका मत है कि परमात्मा की उपलब्धि आत्मतत्व द्वारा ही संभव है। इसके लिए योग द्वारा प्रतिपादित शिक्षाओं एवं आत्मानुशासन की आवश्यकता[31] होती है। गीता का कथन है कि आत्मा न तो कर्ता है और न भोक्ता, वह " केवल "

28- भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे; पृ. सं 24-25

29- रानडे, भगवद्गीता एज ए फिला. आफ् गाड रियलाइजेशन पृ. सं. 30

30- तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धि साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं दृष्टत्वम् कर्तृ भावश्च ॥ सांख्य कारिका श्लोक, 19

31- तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानाम्-योग सूत्र 1; 13,

है। गीता के अनुसार उपाधि रहित असंग आत्मा को जो कर्ता देखता है, वह शास्त्र और आचार्य के उपदेश का त्याग कर देने से संस्कार रहित बुद्धिवाला होने के कारण दुर्बुद्धि है।[32] अतः गीता में भी भक्ति द्वारा ईश्वर की उपलब्धि का निर्देश है। गीता में मोक्ष की अवस्था में आत्मा का परमात्मा में प्रवेश[33] होना बताया गया है जब कि सांख्य और योग ने ऐसा निर्देश नहीं दिया है।

रानडे ने गीता एवं ब्रह्मसूत्र के मध्य किसी सैद्धान्तिक सम्बन्ध को स्वीकार न करके केवल ऐतिहासिक साम्य ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन विचार प्रतिपादित किये। प्रथम धारणा के अनुसार गीता की रचना ब्रह्मसूत्र से पहले हुई थी। दूसरे, ब्रह्मसूत्र की रचना गीता से पहले हुई है और तीसरे उन्होंने गीता एवं ब्रह्मसूत्र के अन्तर्निर्देश, आन्तरिक निर्भरता एवं सहलेखन का कथन किया। प्रथम विचारधारा का प्रतिनिधित्व के. टी. तेलंग, द्वितीय का मैक्समूलर और तृतीयका लोकमान्य तिलक करते हैं। रानडे ने इन तीनों की व्याख्या पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में की है। प्रथम की पुष्टि करते हुए उनका कथन है कि गीता की पूर्वपरता को ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने स्वयं स्वीकार किया है।[34] दूसरी ओर बादरायण ने ही गीता के मोक्षविषयक 'उत्तरायण और दक्षिणायण' अथवा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष[35] के कथन की पुष्टि की है। अतः रानडे गीता को ब्रह्मसूत्र की पूर्ववर्ती रचना मानते हैं।

द्वितीय विचार की पुष्टि में गीता का यह कथन प्राप्त होता है कि बहुत से ऋषियों, छन्दों एवं ब्रह्मसूत्र में[36] भली भाँति उस तत्व के बारे में बताया गया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मसूत्र की

32- भगवद्गीता 18-16
33- भगवद्गीता 18-55
34- योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते। ब्रह्मसूत्र 2.21
35- गीता 8-24-26
36- गीता 13-4

रचना गीता के पहले थी क्योंकि उसमें ब्रह्मसूत्र का उल्लेख प्राप्त हुआ है। उपरोक्त कथन ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध में शंकराचार्य ने वैदिक परीक्षण एवं उपनिषदीय परीक्षण के आधार पर उसे तथ्यपूर्ण बताया है। रामानुज और मध्वाचार्य इससे असहमत हैं। रानडे ने इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है, " उक्ति ही हमें बताती है कि ब्रह्मसूत्र वेद एवं उपनिषदों को एक ही सूत्र में जोड़ती है, । अतः वह सभी जो कुछ वेद एवं उपनिषद् के अतिरिक्त है, आवश्यक रूप से ब्रह्मसूत्र ही होना चाहिए।[37] लेकिन आगे चलकर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह ब्रह्मसूत्र बादरायण द्वारा लिखित ग्रन्थ के नाम का ही प्रयोग है क्योंकि बादरायण ने स्वयं अपने अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के आठ सूत्रकारों के नाम बताये हैं जो आग्नेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, काशकृत्स्न, काठणाजिनि, जैमिनि, वादरि और बामदेव के नाम से नाम जाने जाते हैं। अतः यह पूर्णरूपेण नहीं स्वीकृत हो सकता कि इसमें से किस सूत्रकार का ब्रह्मसूत्र गीता के लेखक के मन में था।

तृतीय मत में गीता एवं ब्रह्मसूत्र में समानता का दर्शन होता है जिसका अभिप्राय है कि दोनों में एक दूसरे का अन्तनिर्देश और सहलेखन समाविष्ट है। बेलवलकर ने बादरायण के ब्रह्मसूत्र को " शाखीय उपनिषद् "[38] नाम से अभिहित किया। दूसरी ओर रानडे ने भगवद्गीता को भी सर्वशाखीय उपनिषद् कहा है। रानडे के अनुसार गीता को ऐसा कहना उसे बहुत बड़ा सम्मान देना है। इसके लिए रानडे ने गीता एवं ब्रह्मसूत्र दोनों का स्त्रोत उपनिषद् दर्शन बताया। इसका उल्लेख करते हुए रानडे का कहना है, " इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदीय तत्वसिद्धान्तों के आधार पर ही भगवद्गीता के निष्काम कर्म

37– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, आर. डी. रानडे, पृ. सं. 37

38– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे, पृ. 38–

का भव्य प्रासाद विनिर्मित है। अतः दोनों में रहस्यात्मक आत्म-साधना प्रधान ध्येय मानी गयी है।''[३९]

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र एवं गीता दोनों की आधारभूमि का निर्माण उपनिषदों से ही परिलाक्षित है। दोनों का तथ्य निरूपण एक ही प्रसंग में हुआ है। अतः दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

गीता एवं वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध का अध्ययन रानडे ने वेदान्त दर्शन के प्रमुख आचार्य शंकर, रामानुज, बल्लभ एवं मध्वाचार्य की गीताकृत व्याख्या को ध्यान में रखते हुए निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया।

रानडे के अनुसार उपर्युक्त समस्त वेदान्ती टीकाकारों ने चरमसत्ता के संदर्भ में गीता एवं उपनिषद् दर्शन में परस्पर विरोधी तथ्य पाये हैं। गीता में वर्णित '' सर्वतः पाणि पादं तत् '' को उपनिषद् दर्शन में अपाणिपादो '' जवनोग्रहीता '' कहकर मतभेद उपस्थित किया है। ईश्वर के स्वरूप निरूपण में टीकाकारों में मतभेद है। शंकराचार्य का मत है कि गीता का यह मन्तव्य भ्रमात्मक है। '' पाणिपाद '' का कथन परमसत्ता को संदिग्ध बना देता है। पुनः उन्होंने कहा कि भ्रमात्मक वस्तु यद्यपि किसी वस्तु का कारण होती है, चाहे वह अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। अतः पाणिपाद का कथन उस ज्ञेय '' अपाणिपाद '' का संकेत अवश्य देता है। परमसत्ता तो पूर्णरूपेण कर्मेन्द्रियों से विहीन निर्गुण स्वरूप है। इस पर किसी प्रकार के विशेषण का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः इस सम्बन्ध में गीता का सगुण रूप में प्रस्तुतीकरण संदिग्ध बताया गया।

परमसत्ता के सम्बन्ध में रामानुज का विचार है कि शंकर का '' अपाणिपाद ईश्वर '' यदि सत्य भी है तब वह व्यावहारिक जगत् में पाणिपाद का कारण है और पूर्णतः सत्य भी है। रानडे ने इस पर

39– रानडे, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे पृ. सं. (भूमिका)

शंकर और रामानुज द्वारा सत्ता के अपाणिपाद में समानता बताते हुए कहा, '' हम यहो निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि न तो शंकराचार्य और न तो रामानुज ने ही अपने साक्षात्कार की अवस्था में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है। अर्जुन ने स्पष्ट रूप से भगवान को हाथ पैर आदि इन्द्रियों से युक्त देखा था जो गीता के ग्यारहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में वर्णित है।''[40]

रानडे के अनुसार गीता में प्रतिपादित वैयक्तिक सत्ता के संदर्भ में शंकर और रामानुज मतैक्य नहीं हैं। गीता में '' क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ [41] तथा क्षर आर अक्षर [42] का अर्थ दोनों भाष्यकारों ने अलग अलग रूप में लिया।'' रानडे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, '' इस विषय पर यदि हम शंकर और रामानुज में अन्तर पाते हैं तो वह अविधा के प्रतिपादन से ही संभव है और दूसरे चिदाचिद् विशिष्ट ईश्वर के सम्बन्ध में क्षर तथा अक्षर जैसा अन्तरदृश्य है।[43] गीता में अक्षर पुरुष को पुरुष न मानकर उत्तम पुरुष [44] को ही एकमात्र पुरुष माना गया है। इस तरह गीता में ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् का आदि और अन्त तथा पालन कर्ता [45] माना गया है। क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष यही विवेचन गीता मे उपलब्ध है।''

शंकर और रामानुज दोनों ने गीता द्वारा प्रतिपादित एक सिद्धांत पर और मतभेद प्रकट किये हैं। शंकर ने क्षर की व्याख्या '' सर्व-भूतानि '' कह कर किया है। पुनः उन्होंने इसे विनाशशील बताया।

40- रानडे, भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन पृ. सं. 45

41–भगवद्गीता; अध्याय 13, श्लोक सं. 16

42–भगवद्गीता, अध्याय 15, श्लोक सं. 16

43–भगवद्गीता एज ए फिलासफो आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे पृ. सं. 45-46

44–गीता अध्याय 8, श्लोक सं. 22

45–गीता अध्याय 8 श्लोक ·. 22

शंकराचार्य का अक्षर से तात्पर्य था जिसे वे कूटस्थ मानते हैं। कूटस्थ का अर्थ उन्होंने माया अथवा भ्रम से लिया। रामानुज के अनुसार यह सत्य है कि क्षर और अक्षर पुरुष क्रमशः चित् और चित् पुरुष के भेद का मूल्यांकन करते हैं। क्षर पुरुष से उन्होंने जगत् की समस्त वस्तुओं को सम्बोधित किया [46] अक्षर पुरुष के सम्बन्ध में उन्होंने मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा कि वह चित् और कूटस्थ है। रामानुज ने इसे '' स्वेन रूपेण उपस्थितः '' कहकर उच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया। रानडे ने शंकर और रामानुज दोनों के विचारों में मतभेद के सम्बन्ध में कहा, '' वास्तव में रामानुज और शंकर कूटस्थ के संदर्भ में मौलिक भेद रखते हैं। उत्तम पुरुष के विषय में वे अधिक मतभेद नहीं रखते। वह ईश्वर ही परमोत्कृष्ट सत्ता है और उत्तम पुरुष पूर्णतः परमात्मन् अथवा सर्वोच्च आत्मा के तुल्य है।''[47]

रानडे के अनुसार गीता के ' नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः '[48] कथन पर मध्वाचार्य ने आक्षेप किया है। उनके अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों शाश्वत हैं। असत् अर्थात् प्रकृति और सत् अर्थात् परब्रह्म दोनों की शाश्वत् सत्ता मानने में कोई विरोध नहीं है। मध्वाचार्य का कहना है कि ' विद्यते ' और ' भावः ' के बीच अवग्रह जो अस्तित्ववान है या नहीं है, का अध्ययन आवश्यक है। यदि कहीं वह इस प्रकार अस्तित्ववान है तब मध्वाचार्य सहमत हैं किन्तु यदि ऐसा नहीं तब वे गीता के अनुसार सत् और असत् दोनों को शाश्वत् नहीं मान सकते। रानडे का अभिमत है कि मध्वाचार्य की व्याख्या द्वारा '' नासतोविद्यतेभावो '' संभवतः यह संकेत करता है कि असत् या माया स्वयं में अस्तित्ववान है इस रूप में यह इसकी उचित व्याख्या नहीं हो सकती।

46–आब्रह्म पिपीलिका पर्यंतम्।

47– भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन; रानडे, पृ. 47

48– गीता अध्याय दो, श्लोक सं. 16

वल्लभ द्वारा प्रतिपादित सत् और असत् की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए रानडे का कथन है कि सत्ता सत् और असत् दोनों से परे है। इसे उन्होंने '' दुर्ज्ञेय '' की संज्ञा दी। इसके अनुसार सत्ता न तो सत् है और न असत्।

आत्मा के स्वरूप प्रतिपादन में गीता के महत्वपूर्ण संकेत '' ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः '' पर अद्वैतवादियों ने सन्देह प्रकट करते हुए कहा कि इस अंश का विचार द्वैतवाद में ही संभव हो सकता है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय में भेद, ज्ञाताज्ञेय का भेद, जीव और ईश्वर का भेद यह सब माया की सृष्टि है। आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। आत्मा का ज्ञान शारीरिक उपाधियों और अविद्या के कारण परिछिन्न या सीमित हो जाता है। आत्म तत्व के निरूपण में शंकर का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है ' मैं हूँ '।[49] ' मैं नहीं हूँ ' ऐसा अनुभव कोई नहीं करता। पुनः उन्होंने बताया कि जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहे वही उसका यथार्थ तत्व या असली सत्ता है।[50] इस प्रकार ज्ञान को ही आत्मा का यथार्थ तत्व बताया। आत्मा का अध्ययन वेदान्तियों ने भित्ववाद के अन्तर्गत किया। इसमें उन्होंने बताया कि चेतन आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। जिसमें किसी जड़ या चेतन के प्रवेश करने का अवकाश न हो वह आत्मा है। यह कूटस्थ निर्विकार, असंग, निष्क्रिय, नित्य, निरवयव और अपरिणामी है। प्रकृति के संसर्ग से अहंकार की भावना से बन्धन एवं भोक्तृत्व का आरोपण होता है।

गीता में आत्मा को परमात्मा का अंश बताया गया है। उपनिषदों में इसे विस्फुलिंग नाम से सम्बोधित किया गया है। यह उसी समय तक सत् है जब तक वह सत्ता में है। नष्ट होने पर वह असत् हो जाता है। इसी प्रकार शंकराचार्य ने जलसूर्यक और घटाकाश का उदाहरण देकर आत्मा को ब्रह्म का ही स्वरूप बताया है। ब्रह्मसूत्र में बताया गया है कि

49- ब्रह्मसूत्र 1/1/1 ---- बादरायण

50- ब्रह्मसूत्र 2/1/11

समस्त संसार उस परमात्मा का अंश है वह अणु-अणु में व्याप्त है। संसार की सभी वस्तुएँ उसी से अस्तित्ववान हैं।[51] बाद में अद्वैत-वादियों ने अंश के विचार पर काफी मतभेद प्रकट किया। रामानुज ने अंशविचार के संदर्भ में बतलाया कि चित् और अचित् दोनों ब्रह्म के अंश हैं। वास्तव में वे एक नहीं हो सकते क्योंकि स्वल्प जीव और अनन्त ईश्वर का तादात्म्य संभव नहीं। अतः रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत[52] के माध्यम से आत्म तत्व का निरूपण प्रस्तुत करता है।

नैष्कर्म के सिद्धान्त को वेदान्त दार्शनिकों ने अध्ययन कर इसे आगे बढाया। आधुनिक व्याख्याकारों के अन्तर्गत रानडे ने इसका विधिवत् परीक्षण किया। निष्काम कर्म योग के विषय–निरूपण में इन्होंने तीन विचारधाराओं का उल्लेख किया। आधुनिक व्याख्याकारों मे तिलक और गांधी ने इस पर बृहद् अध्ययन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार कर्मफल की भावना को त्याग कर हम निष्काम कर्मयोग की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इसके अनुसार कर्म की परिपूर्णता कर्मफल के प्रति अनासक्ति से ही संभव है। भक्ति-प्रधान नव्य वेदान्तियों का विचार है कि सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित करना ही नैष्कर्म है।[53] रानडे ने मध्वाचार्य को अपने भाष्य में कर्मत्याग और फलत्याग दोनों को समान सिद्ध करने वाला बताया है। सुरेश्वराचार्य ने भी इसका अनुमोदन किया है।

शंकराचार्य ने नैष्कर्म का तात्प " निष्क्रियब्रह्मात्म संबोध " से लिया। इस पर रामानुज शंकर से मतभेद नहीं रखते। रानडे व रामानुज कर्मों में सभी प्रकार की आसक्ति का परित्याग करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर ही वास्तविक कर्ता है।[54] उक्त कथनों में भगवद्-

---

51– ब्रह्मसूत्र 11/3/43

52– श्री भाष्य 1/1/1

53– भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे, पृ. सं. 49

54– परमपुरुष कृतत्वानु संधानेनात्म कृतत्वे विगत स्पृह। ब्रह्मसूत्रभाष्य,

गीता के कथन की ध्वनि मिलती है जिसमें कहा गया है कि नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन सब कर्मों का करने वाला एक मात्र 'मैं' ही जिसका आश्रय लेने वाला हूँ; स्वर्गादि फल जिसके लिए आश्रयणीय नहीं है वह मेरी कृपा से सदा रहने वाले आदिरहित अविनाशी नित्य सर्वोत्कृष्ट वैष्णव पद को प्राप्त होता है।[55] इसी प्रकार रामानुज का विचार है कि नैष्कर्म की प्राप्ति सभी काम्य कर्मों के परित्याग से ही संभव है।

गीता द्वारा प्रतिपादित मोक्ष विचार पर वेदान्तवादी भाष्यकारों ने मतभेद प्रकट किया है। इस मतभेद का अध्ययन रानडे ने मोक्ष की तीन विचारधारा साधर्म्य, ब्रह्म भूयाय तथा विशते के संदर्भ में अलग अलग रूप में किया है। शंकर ने साधर्म्य को स्वरूपता के अर्थ में लिया जिससे "मत्स्वरूपमागता:" अर्थ निरूपित करके मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो, ऐसा संकेत दिया। परन्तु प्रश्न उठता है कि कहीं स्वरूपता का प्रयोग सरूपता के अर्थ में तो नहीं हुआ। इस प्रकार शंकर ने अन्ततोगत्वा साधर्म्य की व्याख्या समान धर्मता द्वारा प्रस्तुत कर इस सन्देह की दूर किया। रामानुज ने साधर्म्य को साम्य के अर्थ में लिया और उपनिषदीय कथन से परिष्कृत कर "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" अर्थात् निरंजन ईश्वर के परम पद को प्राप्त हो जाता है, कथन प्रस्तुत किया। वल्लभाचार्य ने इससे समानधर्मता का अर्थ-ग्रहण किया। उन्होंने इसे लीलायोगत्वम्, सलोकता आदि की श्रेणी में रखा। ठीक इसी प्रकार नीलकण्ठ ने साधर्म्य का अर्थ सर्वात्मत्वं सर्वनियंतृत्वं, सर्वभावधिष्णतृत्त्वम् आदि कथनों से लिया। रानडे ने इस पर अपना मत देते हुए बताया, "एक व्यक्ति को साधर्म्य की प्राप्ति के लिए तभी उपयुक्त कहा जा सकता है जब समस्त वस्तुओं का ज्ञान उसे प्राप्त हो गया हो, तभी वह परमपद प्राप्त कर सभी का स्वामी कहलाने योग्य हो सकता है।"[56]

55- गीता 18-56

56- भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे : पृ. सं. 52-53

मोक्ष के सम्बन्ध में प्रतिपादित द्वितीय विचारधारा ब्रह्मसूत्र से सम्बन्धित है जिसे " ब्रह्मभूय " के नाम से जाना। श्रीधर स्वामी का मत है कि वह साधक ब्रह्मभाव के लिए " मैं ब्रह्म हूँ " इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शंकर ने " ब्रह्मभूयाय " का अर्थ " ब्रह्मभवनाय " से लिया और आनन्दगिरि ने ' ब्रह्मणों भवन ' से लिया। शंकर और आनन्दगिरिकृत व्याख्या के अनुसार " ब्रह्मभवन " आध्यात्मिक अनुभूति की सभी क्रियाओं को समाविष्ट करता है। रामानुज " ब्रह्मभूयाय " से आत्मानुभव का अर्थ ग्रहण करते हैं जब कि मध्वाचार्यने ' ब्रह्मणि स्थिति : सर्वदा तन्मनस्कता ' का कथन करके उसे ब्रह्मनिवास के अर्थ में लिया। बल्लभाचार्य ने ब्रह्मभूय का अर्थ ब्रह्म में निश्चित स्थान की उपलब्धि से लगाया। बादरायण भी इसी अर्थ से सहमत हैं।

भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की तीसरी विचारधारा विशते द्वारा प्रवेश का अर्थ ध्वनित होता है। " सभी प्राणियों में सम होकर राग द्वेष जनित विक्षेप का अभाव हो जाने के कारण समस्त प्राणियों में मेरी भावना रूपा पराभक्ति को प्राप्त होता है और उस पराभक्ति के द्वारा मुझे तत्त्व से जानता है। तत्पश्चात् वह उस ज्ञान के भी उपरत हो जाने पर मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।"[57] रानडे ने इस क्रिया को भगवद्गीता के अनुसार विभिन्न स्तरों में विभक्त किया। पहले " ब्रह्मभूय " या " ब्रह्मभवन " तब भक्ति की उपलब्धि इसके बाद ईश्वर का परिपूर्ण ज्ञान और अन्ततः ब्रह्म में प्रवेश। भक्ति के माध्यम से साधक को चरम ज्ञान की प्राप्ति होती है। और परमज्ञान के माध्यम से परब्रह्म में उसका प्रवेश। वल्लभ ने भी लीलावान ईश्वर में प्रवेश करके परमानन्द प्राप्ति का उल्लेख किया है। रामानुज ने तो मुक्त आत्मा को ब्रह्म ही कहा है। उनके अनुसार आत्मा ब्रह्म में प्रवेश नहीं

57- ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समःसर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ 18/54 गीता
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वत:।
ततो मां तत्त्वता ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18/55 गीता

करती बल्कि उसके सदृश हो जाती है। शंकरने मुक्ति के स्वरूप निरूपण के संदर्भ में बताया कि पारमार्थिक दृष्टि से "मुक्ति" प्राप्त की ही प्राप्ति है। यह एक प्रकार से शाश्वत् सत्य का अनुभव है। इस प्रकार ब्रह्म को साक्षात् अनुभूति ही मुक्ति है। यहां पर शंकरने (विशते) का अर्थ अनुभूति से लिया है।

ज्ञानेश्वर कृत गीता की रहस्यवादी व्याख्या में रानडे ने वेदान्त दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्या की अपेक्षा ज्ञानेश्वरकृत रहस्यवादी व्याख्या को उत्कृष्ट बतलाया। उनका कहना था कि ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त गीता की वास्तविक व्याख्या और किसी भाष्यकार ने नहीं प्रस्तुत की। उनके शब्दों में ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के एक महान् संत ही नहीं, बल्कि गीता के प्रमुख व्याख्याकार भी हैं। गीता की सुस्पष्ट व्याख्या इनके अद्वितीय रहस्यवादी दर्शन एवं काव्य के समन्वय में और अधिक बोधगम्यता और लोकप्रियता को प्राप्त हुई। जब रहस्यवाद दार्शनिक की अन्तरदृष्टि एवं काव्यात्मक विचार शक्ति द्वारा एकीकृत होता है तब कोई भी आसानी से यह देख सकता है कि कैसे ज्ञानेश्वरकृत भगवद्गीता की व्याख्या उत्कृष्टता को प्राप्त होती है।[58]

रानडे ने ज्ञानेश्वरकृत गीता की रहस्यवादी व्याख्या का आठ विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया है जिनका अलग-अलग वर्णन ही उन्हें अधिक स्पष्ट कर सकता है।

सर्वप्रथम ज्ञानेश्वर ने अद्वैतसूर्य अथवा "चित्सूर्य" का उल्लेख अपनी रहस्यवादी प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रस्तुत किया। इसमें हमें प्लेटो के परमविचार अथवा परमसत् के विचार का दर्शन होता है। ज्ञानेश्वर के अनुसार आध्यात्मिक सूर्य और भौतिक सूर्य में बहुत बड़ा अन्तर होता है। भौतिक सूर्य नक्षत्रों एवं तारों के साथ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है जब कि आध्यात्मिक सूर्य इससे परे होता है। रूपक का प्रयोग करते हुए उन्होंने बताया-" जब आध्यात्मिक सूर्य अस्त होता है तो जीवात्मायें उसी तरह शरीर का परित्याग करती हैं जैसे

58- द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन : रानडे पृ. 55.

चिड़ियाँ प्रातः अपने घोंसलों को छोड़ देती हैं। पुनः उन्होंने बताया कि आत्मायें मधुमक्खियों के समान पुष्प रूपी शरीर के द्वारा आच्छादित होती हैं और जैसे ही सूर्योदय होता है पुनः उड़कर मुक्त गगन में विहार करने लगती हैं।[59] आध्यात्मिक सूर्य का उदय इस क्षितिज के परे होता है और जैसे जैसे वह शक्ति एवं प्रकाश के माध्यम से अपनी किरणों को हमारी चेतना के दोनों छोरों पर एक साथ फेंकता है तब ये किरणें एक ऐसे प्रकाश से आ मिलती हैं जो हमारी समस्त सांसारिक जीवन रूपी जंगल को भस्मकर देती हैं। रानडे ने ज्ञानेश्वर के विचारों का उल्लेख करते हुए कहा है। वे हमें एक अच्छे रूपक के माध्यम से बताते हैं कि जब आध्यात्मिक सूर्य क्षितिज तक पहुँचता है शरीर की छाया स्वयं को पैरों के नीचे छिपा लेती है और व्यक्ति उस अद्वैत सूर्य से तादात्म्य का अनुभव करने लगता है।[60] इस प्रकार सूर्य निकलने पर तारों का लुप्त हो जाना, सूर्योदय पर चिड़ियों का घोंसले से उड़ जाना, मधुमक्खियों का विकसित पुष्प पर मंड़राना, दिन में चक्रवाक को एक दूसरे से मिलने का सौभाग्य प्राप्त न होना, सूर्य का मध्याकाश में आने पर शरीर की परछाई का पैरों के नीचे हो जाना आदि प्रस्तुतीकरण द्वारा ज्ञानेश्वर ने आध्यात्मिक और भौतिक सूर्य का अन्तर स्पष्ट किया।

ज्ञानेश्वर ने बताया कि ईश्वर विश्व का एकमात्र संचालक परिपालक एवं संहारकर्ता है। प्रकृति की अन्य शक्ति उनकी सृष्टि में सहायक है। उपनिषद् में भी " अहं वृक्षस्य रेरिवा " कहकर उसे ही एकमात्र संचालक बताया गया है। रानडे ने बताया कि हम प्रकृति को देखकर यही अनुमान लगाते हैं कि यह व्यवस्था ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही दृष्टिगत है और यदि जीवन क्रिया सम्बन्धी दृष्टि कोण को लें जैसे सांस लेना, वस्तु को देखना, बोलना आदि तब भी यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इन सबके पीछे ईश्वर की ही अदृश्य शक्ति कार्य कर रही है। ये समस्त कार्य ईश्वरीय प्रेरणा एवं निर्देश से नित्य नियमित रूप से

59– द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन; रानडे, पृ. 55
60– वही " " " पृ. 58

संचालित हो रहे हैं। ज्ञानेश्वर का मत है कि जब कभी भी ईश्वर चाहता है कि हम अन्तिम उच्छ्वास या सांस लें तब यह क्रिया अन्ततः समाप्त हो जाती है क्योंकि इसकी प्रेरक शक्ति " ईश्वरीय आदेश " इसे मूलतः विनष्ट कर देते हैं। रानडे ने मृत्यु के सम्बन्ध में ज्ञानेश्वर के कथन को प्रस्तुत करते हुए कहा है, " इस प्रकार मृत्यु ईश्वर की इच्छा एवं व्यवस्था से ही सम्पन्न होती है। ये सभी यह प्रदर्शित करती हैं कि ईश्वर की असीम शक्ति सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। यही अनंत शक्ति ईश्वरीय सत्ता के लिए एक अत्युत्कृष्ट सृष्टिमूलक तर्क है।"[61]

ज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित भ्रम बाहुल्य का सिद्धान्त अथवा माया का विचार जिसे शंकर ने पहले ही प्रतिपादित किया था, एक उत्कृष्ट काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण के माध्यम से ज्ञानेश्वरी में वर्णित है। उन्होंने ब्रह्म रूपी स्त्रोत से निःसृत मायानदी का अपूर्व कथन प्रस्तुत करके अद्वैतवादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। इसे उन्होंने ब्रह्मांचल व ब्रह्मगिरि के नाम से सम्बोधित किया। एक उत्कृष्ट उपमा के माध्यम से ज्ञानेश्वर ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि जैसे नदी अपने प्रवाह में फेनाकृति का निर्माण करती है उसी तरह ईश्वर माया या भ्रम का प्रतिपादन जगत्-सृष्टि के सन्दर्भ में करता है। बुद्धिमान व्यक्ति इस माया नदी को तैरकर पार करना चाहते हैं परिणामस्वरूप बिना कोई चिन्ह छोडे अथांग जल में डूब जाते हैं। ज्ञानेश्वर ने शब्द प्रमाण को उस पवित्र प्रस्तर की भांति बताया जिसे मनुष्य अपने वक्ष से बांधकर माया नदी को पार करना चाहता है परन्तु आगे चलकर वह भी किसी मछली के मुंह में जा गिरता है क्योंकि उन्हें प्रस्तर के आश्रय का अहंकार रहता है। ज्ञानेश्वर ने इस माया नदी या भ्रमप्रवाह से पार होने का बहुत ही सरल उपाय ढूँढ निकाला। उनका कथन है, " यदि हम इस भयानक प्रवाह को पार करना चाहतें हैं तब हमें एक नाविक की

61–द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन; रानडे पृ. 59/60
62– रानडे; भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, पृ. सं. 65

भाँति सद्गुरु की खोज करनी पडेगी। तभी इस माया प्रवाह को पार कर आनन्दरूप ईश्वर की प्राप्ति संभव हो सकती है।''

जब मनुष्य आत्मानुभूति मार्ग पर चलने को उद्यत होता है तब उसे मार्ग में कई प्रकार की मनोवैज्ञानिक, नैतिक, धार्मिक भावनाओं का सामना करना पड़ता है। ज्ञानेश्वर ने इन्हें '' अष्टसात्विक भाव ''[62] के नाम से अभिहित किया। उन्होंने बताया कि आत्मानुभूति की इन आठ भावनाओं की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। ये अष्टसात्विक भाव रोमांच, स्वेदस्त्राव, अश्रुपात, स्पन्द, आंशिक पक्षाघात्, युगारम्भ, शान्ति और प्रसन्नता है। ज्ञानेश्वर ने इसका प्रयोग स्पष्ट करते हुए कहा है, '' अपने अन्दर ब्रह्म का अपूर्वानुभव करके शरीर को निष्क्रिय समझकर ईश्वर के चरणों में नतमस्तक होने से सहज ही उसकी प्राप्ति होती है।''[63]

ज्ञानेश्वर के अनुसार स्वानुभूति के माध्यम से उस अद्वय परब्रह्म के साथ तदाकारता एक अनिर्वचनीय आनन्द का कारण बन जाती है और तब ऐसी अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों एक रूप होकर केवल मुक्त स्वभाव परमानन्द रूप में शेष बचा रहता है।

ज्ञानेश्वर ने ईश्वर और भक्त की एकता का बहुत ही मार्मिक विश्लेषण ज्ञानेश्वरी में किया है। इससे उनकी तर्कशक्ति का भी आभास मिलता है। सर्वप्रथम उन्होंने तदरूपता का प्रमुख लक्षण समर्पण का निर्देश दिया। दार्शनिक शब्दावली में इसे ही तादात्म्यता कहते हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि जो इस परमगोप्य गीता शास्त्र का मेरे भक्तों में प्रचार करेगा वह मुझसे पराभक्ति प्राप्त करके निःसन्देह होकर मुझको ही प्राप्त करता है।[64] दूसरे ज्ञानेश्वर ने वैयक्तिकता के पूर्ण

---

63 – ज्ञानेश्वरी; 11–246

64 – य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ 18–68 गीता

विनाश को जो रहस्यानुभूति परक एकता में भी सहायक है, आवश्यक बताया। एक उदाहरण के माध्यम से ज्ञानेश्वर कहते हैं, "भक्त ईश्वर से उसी प्रकार एकता स्थापित करता है जैसे घडे के फूट जाने पर घडे के अन्दर और बाहर की वायु परस्पर एक हो जाती है।[65] वैयक्तिकता के विनाश के लिए उन्होंने बताया कि जिस प्रकार स्वप्नावस्था को जागृत होने पर निर्वैयक्तिकता के रूप में स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार ईश्वरानुभूति में मनुष्य को अहंरूपी वैयक्तिकता एवं सशरीर होने के भाव को छोड़ देना चाहिए। ज्ञानेश्वरी के एक उद्धरण में उन्होंने कहा है —— "अपना भेद और प्रभाव मिटाकर जो अपनेको स्थिर रखता है और मेरी एकता का अनुभव करता है वही शरणागति कही जाती है। यदि अद्वैत रूप उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब धर्म और अधर्म उसके समीप नहीं ठहर पाते। उन्होंने बताया कि जैसे जल में नमक पड़ने से वह भी जल ही हो जाता है उसी तरह भक्त भगवान् में मिलकर तद्रूपता को प्राप्त करता है।[66]

ज्ञानेश्वरी ने ईश्वर और आत्मा की एकरूपता को विशेषण और विशेष्य की संगति द्वारा स्पष्ट करते हुए बताया कि जैसे फूल और उसका सौरभ अलग नहीं किया जा सकता उसी तरह भक्त ओर भगवान एकरूप है। गीता में भी कहा गया है कि जिस अवस्था विशेष में शुद्ध मन से आत्मा को ही देखता है उसे योग कहते हैं।[67] इसके सम्बन्ध में ज्ञानेश्वर ने दो आमने सामने रखे हुए शीशे में एक दूसरे के अगणित प्रतिविम्ब का उदाहरण प्रस्तुत किया और बताया कि भक्त और भगवान में प्रतिविम्ब के परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई स्थिर निर्णय नहीं दिया जा सकता क्योंकि तब उसे कृष्ण और अर्जुन की भाँति एक दूसरे में अपनी सत्ता का भास होने लगता है और अन्ततः तद्रूपता

---

65 – द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाजइशन, रानडे, पृ. सं. 67

66 – ज्ञानेश्वरी : 18–1314;

67 - गीता, 6–20

का परमज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। इसके लिए वेदान्त दार्शनिकोंने उपनिषदीय कथन ' तत्वमसि, सोऽहं ' आदि का उल्लेख किया है। जिसमें इसी एकता का दर्शन होता है।

भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत ज्ञानेश्वर ने एक मौलिक योगदान प्रस्तुत किया जिसे अन्तर्अनुभूति के नाम से जाना गया। इसके अन्तर्गत उन्होंने दो बातों का अध्ययन किया। प्रथम अन्तर्स्पर्शी अनुभूति और दूसरा शनैः शनैः उसकी परिपूर्णता का प्रयास। ज्ञानेश्वर के अनुसार रहस्यानुभूति प्रक्रिया में ईश्वर को सन्निकटता का अनुभव भक्त को सहज ही होने लगता है। क्योंकि उसे एक अपूर्व आनन्द का क्रमशः अनुभव होने लागता है। जैसे चतुर्दशी और पूर्णमासी के चन्द्रमा में सूक्ष्म अन्तर होता है उसी विस्तार के संदर्भ में भक्त उस दिव्यात्मा को प्राप्त कर तथावत् हो जाता है। ज्ञानेश्वरी के अन्तर्गत उन्होंने बताया है कि भक्त अपनी सत्ता के पूर्णविलय के बाद ही ईश्वर को प्राप्त करता है।[68]

रानडे ने उक्त तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है, " शारीरिक और मानसिक तथा अन्य सीमायें ही रहस्यवादी के इस अपूर्वानुभव के कारण हो सकती हैं। जब तक उनका शरीर और मन इस संसार में विद्यमान रहता है तब तक उनके दिव्य स्वरूप की प्राप्ति का समय कम होता जाता है।"[69] ज्ञानेश्वर यह निर्देश पहले ही दे चुके हैं। उनका कथन है, "यद्यपि भक्त ईश्वर की तद्रूपता को प्राप्त कर लेता है फिर भी वह भक्त ही रहता है। संत तब तक ही कहा जाता है जब तक वह अपने शारीरिक कार्यों से मुक्त नहीं होता।"[70] ज्ञानेश्वर का मत है साधक जो किसी शिक्षक अथवा गुरु द्वारा उपदिष्ट हो गया हो उसे आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसके बाद ही वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। रानडे

---

68 – ज्ञानेश्वरी... ज्ञानेश्वर, अध्याय 18,1087-1090,
69 – द भगवद् गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, पृ. 79
70 – ज्ञानेश्वरी– ज्ञानेश्वर, 8/114-117

ने मीरा के इस कथन, '' साधु कि संगत गुरुजी की सेवा, बनत बनत बनि आई रे '' के माध्यम से ज्ञानेश्वर के कथन को प्रमाणित किया।

ज्ञानेश्वर ने अपने उपदेशों का समाधान गीता की पंक्तियों से भी उत्कृष्ट शब्दों में किया है जिसके अन्तर्गत उन्होंने कहा है कि आध्यात्मिक विजय में साधक को चार विभिन्न सोपानों से गुजरना पड़ता है। पहला; योद्धा का अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित होना। यहां अस्त्र-शस्त्र का तात्पर्य आध्यात्मिक अंकुश एवं विधि- विधान है। दूसरा, जीवन का युद्ध क्षेत्र जिस पर साधक को आध्यात्मिक विजय को प्राप्त करना है। तीसरा, विजय के बाद दिव्य आरोहण और चौथे, रहस्यवादी का एकाग्र एवं शान्तिप्रिय जीवन के सिंहासन पर राज्याभिषेक। आध्यात्मिक विजय इस सुअवसर पर साधक को अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह[71] का पूर्ण त्याग कर देना पड़ता है। इस प्रकार योग्य दिशा में प्रयत्न करने पर सदा सद्गुरु की कृपा होने पर इसी जन्म में मनुष्य आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार तक पहुँच सकता है। रानडे के अनुसार- '' प्रातिभज्ञान आध्यात्मिक अनुभव का प्रधान साधन है किन्तु यह साधन हमारी बुद्धि, इच्छा और भावना का विरोधी नहीं है। इन तीनों के साथ प्रातिभज्ञान की विशेष आवश्यकता है।''[72] इसके द्वारा साधक को शब्दातीत, पराकोटि के आनन्द की प्राप्ति होती है। साधना के मार्ग में बाधक देहाहंकार, बल, दर्प, मद, काम और परिग्रह पर विजय प्राप्त कर मुमुक्षु दैवी गुणों से पूर्णतः विभूषित हो जाता है। ऐसी अखण्ड एवं अद्वैत स्थिति प्राप्त हो जाने पर कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। ज्ञान की चरमसीमा शान्ति को प्राप्त कर वह ब्रह्म में स्थिर हो जाता है। तदनन्तर उसे जिस अद्वैतानुभव का बोध होता है वही ईश्वर की श्रेष्ठ भक्ति कही जाती है। गीता में इसे '' मद्रूप ''[73] कहा गया है।

71- गीता, 18-53

72- कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी: राधाकृष्णन्, पृ. 559

73- गीता, 18/58

रानडे ने गीता की वेदान्त दार्शनिकों एवं महाराष्ट्रीय संत ज्ञानेश्वर कृत व्याख्या के पश्चात् आधुनिक व्याख्याकारों के द्वारा-निर्धारित गीता के अस्पष्ट मार्ग का अध्ययन प्रस्तुत किया। इन व्याख्याकारों के अन्तर्गत उन्होंने गार्बे, भण्डारकर, फर्कुहर, बुद्धिराज, तिलक, गांधी, अरविन्द और ओटो को सम्मिलित किया।

गार्बे की व्याख्या का परीक्षण करते हुए रानडे का अभिमत है कि इनकी व्याख्या धार्मिक कट्टरता की सीमातीत संकीर्णता से मुक्त अवश्य है किन्तु पूर्वाग्रहों से युक्त है। उन्होंने किसी न किसी रूप में ईसाई धर्म का गीता पर प्रभाव अथवा तुलनात्मक दृष्टि से ईसाई धर्म की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है।[74] गार्बे ने केवल ईसाई धर्म के रहस्यवाद एवं गीता के रहस्यवाद में आंशिक समानता को ही प्रस्तुत किया। उन्होंने सम्पूर्ण गीता को ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद में विभक्त कर गीता की रहस्य-वादी व्याख्या प्रस्तुत की।

रानडे ने मिथ्या अवधारणात्मक व्याख्या के संदर्भ में अन्य व्याख्याकारों में हाल्टजमन, ओल्डेनबर्ग तथा ओटोके विचार को व्यक्त करते हुए कहा कि ये सभी व्याख्याकार गीता की व्याख्या एक मिथ्या एवं काल्पनिक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत करते हैं। हाल्टजमन के बारे में रानडे ने कहा कि गार्बे ईश्वरवादी कहे जायेंगे। यदि गार्बे कहते हैं कि ईश्वरवाद गीता का मूल प्रतिपादन है और सर्वेश्वरवाद का आरोप उसमें बाद में लगाया गया तो हाल्टजमन का कहना है कि सर्वेश्वरवाद ही गीता का मूल प्रतिपादन है ईश्वरवाद उसमें बाद में जोडा गया।[75] हाल्टजमन का ही कथन प्रस्तुत करते हुए एक संघर्ष के रूप में दृश्य है एक तरफ हम सर्वेश्वरवादी विश्वात्मा का दर्शन करते हैं जो पारलौकिक है, तो दूसरी तरफ वैयक्तिकता एवं तथ्यपूर्ण कृष्ण और अर्जुन का संवाद।[76]

74– गीता: युग जीवन के संदर्भ में—– शान्ति जोशी.
75–द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे, पृ 89
76–द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे, पृ. 92

हाल्टजमन के पश्चात् रानडे ने ओल्डेनबर्ग के विचारों को गीता के संदर्भ में प्रस्तुत किया। हाल्टजमन की तुलना में वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। पूर्ववर्ती व्याख्याकारों की अपेक्षा उच्चस्तरीय मस्तिष्क के व्याख्याकार के रूप में ओल्डेनबर्ग विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे जहां गार्बे ने ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की वहीं ओल्डेनबर्ग ने विशिष्टाद्वैतवाद की।

ओटो कृत व्याख्या को रानडे ने रहस्यवाद का एक अप्रतिम उदाहरण बताते हुए उनकी गीता विषयक चार शिक्षाओं का विशेष निर्देशन स्वीकार किया। प्रथम आत्मा की अमरता, द्वितीय विश्वरूप दर्शन, तृतीय पूर्व उद्देश्य का सिद्धान्त और चौथा दैवीय यांत्रिकवाद का सिद्धांत। रानडे का मत है कि जैसे गार्बे ने गीता के निष्कर्ष का कथन अपनी व्याख्या के बाद प्रस्तुत किया है वैसा कथन ओटो नहीं कर पाते क्योंकि ओटो गीता में प्रपत्तिभक्ति, सेश्वरयोग और विभूतियोग सभी के दर्शन से ईश्वरवादी और सर्वेश्वरवादी कथनों में निष्कर्ष नहीं प्राप्त कर पाये। अतः इन्होंने विशिष्टाद्वैतवादी कथनोंद्वारा गीता विषयक विचारों की विभिन्न रूप से व्याख्या करते हुए ईश्वर को वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों बताया। इनके अनुसार अद्वैत भक्ति का वह केन्द्रीय भाव है जो पूर्ण शरणागति पर आधारित है। दिव्य संकल्प के रूप में मनुष्य को कार्य करना चाहिए। क्योंकि ईश्वर ही वास्तविक कर्ता है, मनुष्य तो निमित्त मात्र है।

डा. ओटो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीता का मुख्य संदेश "सर्वकर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" में निहित है। मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह दिव्य संकल्प और शक्ति से अपने को युक्त करे।

डा. भण्डारकर ने गीता के भक्ति योग को एकांतिक भक्ति एवं नारायणीय धर्म के कथन द्वारा इसे गीता की मूल शिक्षा बताया। उन्होंने इसे गीता का मूल स्वर मानते हुए सिद्ध किया कि गीता पर ईसाई

सिद्धान्त का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। एकांतिक भक्ति प्रपत्ति की धारणा को भगवद्गीता की स्वतन्त्र स्थापना मानते हुए उन्होंने गीता के उन संकीर्ण मनोवृत्तियों वाले विदेशी आलोचकों को समुचित उत्तर दिया जिन्होंने गीता की उज्ज्वल महानता और गहनता को ईसाई धर्म की सूली पर मिटा देना चाहा था। पर चाहने मात्र से तो सत्य मर नहीं जाता वरन् वह पुनरुज्जीवित हो जाता है।

बौद्धदर्शन के बीसवीं शती के व्याख्याता बुद्धिराज ने अपनी पुस्तक "भगवद्गीता ए स्टडी" में प्रमाणित करना चाहा है कि गीता में बौद्ध दर्शन का प्रभाव तो स्पष्ट है ही, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ सद्गुणों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है। गीता के सोलहवें अध्याय में जो आसुरी और दैवी संपत्ति से युक्त पुरुषों का वर्णन मिलता है वह वास्तव में गीता ने बौद्ध धर्म से लिया है। इसी भांति गीता में विहित निर्वाण, समाधि, प्रज्ञा, स्मृति, कर्म, दुःख एवं नैराश्यवाद आदि की धारणाओं को या तो बौद्ध दर्शन का प्रभाव और या उससे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेने की बात करना अविवेक पूर्ण ही है। अतः बुद्धिराज का यह मत जो मात्र अपने विचारों की छाया में गीता को समझाता है, किसी भी विचारकको मान्य नहीं हो सकता।[77]

रानडे के अनुसार भगवद्गीता में भक्ति का सिद्धान्त आवश्यक रूप से नारायणीय धर्म के विचारों पर आधारित है जैसा कि महाभारत में प्राप्त होता है। भगवद्गीता में भी स्पष्ट रूप से बताया गया है कि हम यह कह सकते हैं कि नारायणीय के पश्चात् भगवद्गीता पराभक्ति के इस सिद्धान्त के पूर्व की व्याख्या है। इस प्रकार एकान्तिक भक्ति गीता में भक्ति की परमोत्कृष्टता का संकेत देती है। यह नारायणीय से भगवद्गीता तक गीता के भक्ति के स्वरूप के विकास का संकेत देती है। सम्पूर्ण गीता के सम्यक् अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है। कर्म के अतिरिक्त भावना के उदात्तीकरण अथवा भक्ति द्वारा भी भक्त

77–द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, रानडे: पृ. सं· 115–123

भगवान का साक्षात्कार कर सकता है। गीता में भक्तियोग का एक विशिष्ट महत्व है। इसमें सर्वप्रथम ऐकान्तिक भक्ति का व्यवस्थित और उज्ज्वल स्वरूप मिलता है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में यद्यपि भक्ति की महिमा का परिचय मिल जाता है तथापि संकातिक भक्ति को स्थापित करने का पूर्ण श्रेय गीता को ही देना होगा। गीता के अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग मनुष्य की ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक प्रवृत्तियों का उन्नयन करते हैं तो भक्तियोग उसकी भावनात्मक एवं रागात्मक प्रवृत्ति का। गीता का भक्तियोग स्पष्ट ही शरणागति या प्रपत्ति [78] को महत्व देता है।

भक्ति एवं प्रपत्ति में अन्तर बताते हुये रानडे का विचार है कि भक्ति में भगवत् अनुकम्पा के लिए प्रयास करना पड़ता है किन्तु प्रपत्ति में स्वतः भगवान भक्त पर अनुकम्पा करतें हैं। भक्त समर्पण की भावना से ईश्वरोपासना करता है अतः भगवान स्वयं उसकी रक्षा करते हैं। इस सहज अनुकम्पा को ओर लक्षित करते हुए श्री कृष्ण जी कहते हैं--

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यमे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

रानडे ने ईश्वरानुभूति के छः विभिन्न स्तर बताये हैं। प्रथम जो व्यक्ति अपने जीवन की परिपूर्णता के प्रति उदासीन है ऐसे लोगों को भगवद्गीता आत्मा के निकट आनेका आह्वान करती है। द्वितीय स्तर उन लोगों को समाहित करता है जो सत्तामूलक विवाद में उलझे हुए हैं। उन्हें भी आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकता गीता के आत्मानुभूतिवादी दर्शन से प्राप्त होती है। तृतीय स्तर है उन लोगों का जो एक विशेष उद्देश्य बनाकर कर्मरत हैं। ऐसे लोगों को रानडे ने अन्तिम लक्ष्य के प्रति सवेष्ट किया। यद्यपि वे " लक्ष्योन्मुख हैं किन्तु परमलक्ष्य ईश्वरानुभूति के प्रति जागरूक होना उन्हें भी आवश्यक है। चौथा स्तर उन व्यक्तियों के लिए जो सभी प्रकार के दुष्कर्म से दूर रहते

---

78. गीता-अध्याय 18, श्लोक सं. 65-66

हैं। ऐसे लोगों को भी भगवद्गीता आत्मानुभूति के प्रति सचेष्ट करती है। पांचवा स्तर बौद्धिक जिज्ञासुओं का है जो तर्क एवं बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में तत्पर है। परमसत्ता के स्तर तक पहुँचने के लिए, गीता बौद्धिक जिज्ञासुओं को भी आत्मानुभूति के प्रति सचेष्ट करती है। सातवें स्तर पर उपर्युक्त सभी भ्रम दूर हो जाते हैं। कर्ता और कर्म, द्रष्टा दृष्य ये समस्त भाव स्वयमेव विनष्ट होकर उस आत्मस्वरूप परमात्मा से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यही सत्ता की चरमोत्कृष्टता गीता का परमलक्ष्य है।

रानडे ने ईश्वर की समस्या को मनुष्य की प्रमुख समस्या बताया है। इसके समाधान के लिए वे गीता–दर्शन का आश्रय लेते हैं। अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में उन्होंने इस समस्या को बहुत गंभीर रूप में लिया तथा उसके अन्तर्गत, ईश्वर को ईश्वरोपलब्धि का मार्ग, ईश्वर का साक्षात्कार इन तीन शीर्षकों के माध्यम से इस समस्या का हल प्रस्तुत किया।

ईश्वर के स्वरूप के सम्बध में रानडे गीता के बारहवें अध्याय में वर्णित सगुण और अव्यक्त अर्थात् निर्गुण उपासना के भेद को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि भगवद्गीता में ईश्वर का स्वरूप सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है। इसके अन्तर्गत एक निश्चित मार्ग का प्राविधान निहित है जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है। इसे उन्होंने नैतिक एवं रहस्यवादी मार्ग[79] कहा। सांख्य दर्शन बहु पुरुषवाद का समर्थक है किन्तु इसी में एक ऐसे पुरुष की कल्पना करता है जो अन्य पुरुषों से श्रेष्ठ एवं ईश्वर कहे जाने योग्य है। योगदर्शन पुरुष विशेष को ईश्वर कहता है जब कि सांख्य पुरुष को ही। गीता एवं ब्रह्मसूत्र में अतिवैयक्तिक एवं वैयक्तिक दो कथन प्राप्त होते हैं। अतिवैयक्तिक ईश्वर अव्यक्त, अदृश्य, अक्षर और अरूप है जब कि वैयक्तिक ईश्वर अन्तर्यामिन् और वैश्वानर के रूप में है। भगवद्गीता

79–रानडेः भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, पृ. 226

उपरोक्त अन्तर को सगुण उपासना और अव्यक्त उपासना द्वारा स्पष्ट करती है ।

ईश्वरानुभूति का स्तर निर्धारित करते हुए रानडे ने रहस्यवाद का मूल्यांकन प्रस्तुत किया । नवें अध्याय में रहस्यानुभूति का चरमोत्कर्ष देखकर रानडे ने आत्मा का ज्ञान गुह्य एवं परमात्मा का ज्ञान अतिगुह्य बताया । गीता में इसे उत्तम एवं पवित्र बताते हुए प्रत्यक्ष बोध का विषय माना गया है । उस जगत् की रचना करके वह परमात्मा उसी में प्रविष्ट हो गया ।[80]

रानडे ने गीता में ईश्वर साक्षात्कार के लिए उपासना का बहुत बडा योगदान देखा। वैसे गीता में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की उपासना का प्राविधान है किन्तु सगुण उपासना का महत्व अधिक देखा जाता है ।

गीता की उपासना विधि को स्पष्ट करते हुए रानडे ने तीन विधियोंको स्वीकार किया है । पहला है :-

वैचारिक विधि :- इस विधि के अन्तर्गत रानडे ने गीता के क्षर एवं अक्षर पुरुष को लिया। क्षर पुरुष के अन्तर्गत समस्त जगत् आ जाता है। जब कि अक्षर पुरुष आत्मा के लिए जो कि अमूर्त है तथा जो सभी पर शासन करता है वह है उत्तम पुरुष । इस प्रकार इस विधि में पुरुषोत्तम, सूत्र, वैश्वानर रवि, मायावी, रस, तज्जत्यन, अधिष्ठान आदिके रूप ईश्वर की उपासना का सिद्धांत दृष्टिगत होता है ।

उपासना की दूसरी विधि है नैतिक विधि इसके अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के माध्यम से उपासना का कथन मिलता है । रानडे साकार रूप नहीं मानते। जो ईश्वर में विश्वास न करके नैतिक मूल्यों में विश्वास करते हैं । रानडे का कथन है, "उन्हें ईश्वर की, नैतिक मूल्य के रूप में ही, उपासना करनी चाहिए ।[81]

80-गीता : 9/4

81- रानडे : द भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गाड रियलाइजेशन, पृ. सं. 245-46.

रानडे ने गीता की तीसरी विधि को रहस्यात्मक विधि कहा। यह बहुत ही व्यावहारिक मार्ग है तथा बहुत से सन्तों द्वारा पूर्वाभ्यासित है।

प्रो. रानडे के मत से वासनाओं के दमन के स्थान पर हमें उनका आध्यात्मीकरण कर देना चाहिए जिससे वे भक्तपूर्ण उल्लास में सहायक हो सकें। विविध नैतिक सिद्धान्त जैसे प्रतिसुखवाद, आध्यात्मिक कर्मवाद, निःश्रेयसवाद और आत्मसाक्षात्कार आदि रानडे की नैतिक दर्शन की पूर्ण योजना में स्थान प्राप्त करते हैं। उनका मत है कि रहस्यवाद अथवा अध्यात्म ज्ञान भावना एवं क्रिया का पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर देता है। संक्षेपतः तत्वदर्शन, नैतिकता और रहस्यवाद मानव के उत्कृष्टतम आध्यात्मिक विकास के लिए एक दूसरे से उसी प्रकार अवियोज्य हैं जिस प्रकार मानव के उत्कृष्टतम मनोविज्ञानिक विकास के लिए बुद्धि इच्छा और आवेग अवियोज्य हैं।[82]

ईश्वर के परमोत्कृष्ट स्वरूप का वर्णन हमें गीता के छठें अध्याय के बीसवें श्लोक में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि जिस अवस्था विशेष में आत्मा से आत्मा को ही देखता है, देहादि को देखते हुए भी आत्मा से ही संतुष्ट रहता है विषयों में नहीं, उसे योग कहते हैं। रानडे की मान्यता है कि उपनिषदों में वर्णित आत्मा के स्वरूप की व्यावहारिकता गीता ही प्रदान करती है, गीता में ईश्वरका व्यक्तित्व अन्तर्चेतना एवं वाह्य जगत् दोनों में निहित बताया गया है।

रानडे का कथन है, " यदि हम लोगों की आन्तरिक सत्ता जो अपने को अहं कहती है दूसरे वाक्य के अनुसार आत्मा है, और यदि वह तीसरे वाक्य के अनुसार बिल्कुल ब्रह्म ही तो तार्किक निगमन के अनुसार अहं ही ब्रह्म हुआ।[83]

रानडे ने ईश्वर के सम्बन्ध में विरोधी कथनों की ओर भी संकेत किया है। सर्व प्रथम वे इषोपनिषद् के पाँचवें श्लोक को जिसमें बताया

82–रानडे: द कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी, पृ. सं. 287–88
83–रानडे: वही कन्स्ट्रक्टिव सर्वे. आफ् उपनिषदिक फिलासफी, पृ.सं. 277–78

गया है कि वह गति करता है वह गति नहीं करता– स्थिर है। वह दूर है। वह निकट है। वह इस विश्व के भीतर है और इस सबके बाहर है। उद्धृत किया। इस विरोधी कथन के परिणाम स्वरूप ही रानडे ने आनन्द को परमतत्व माना। यह आनन्द गीता का परमानन्द है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्यमात्र को ईश्वर की शरण में जाने का निर्देश हुआ है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि रानडे ने गीता की व्याख्या ईश्वरानुभूति के संदर्भ में ही की। गीता में वर्णित आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट कर अन्ततः उन्होंने आत्मा द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग गीता से उद्धृत किया। गीता के सहज मार्ग निरूपण एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त से रानडे बहुत अधिक प्रभावित थे। अतः उन्होंने अपने रहस्यवादी दर्शन की व्याख्या में गीता के विचारों को यथावत् ग्रहण किया।

चतुर्थ परिच्छेद

महाराष्ट्रीय रहस्यवाद

भारतीय अध्यात्म साधन की रहस्यमयी प्रगति की सामीक्षा के प्रसंग में मध्ययुग का इतिहास सर्वथा महत्वपूर्ण है। इसी युग में महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का जन्म हुआ। महाराष्ट्रीय रहस्यवाद उस विचारधारा की अभिव्यक्ति है जो प्रमुख रूप से महाराष्ट्र और कर्नाटक राज्य में विकसित हुई। इसे कन्नड़ संत साहित्य अथवा मध्ययुगीन संत साहित्य के नाम से भी जाना जाता है। मध्ययुगीन संत साहित्य आध्यात्मिक तथा साहित्यिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विद्वान तो इसे वेदों एवं उपनिषदों की आर्षपरम्परा से सम्बद्ध करके इसे अत्यन्त प्राचीन मानते हैं, और कुछ इसे बौद्धों की महायान सम्प्रदाय की शाखा " सहजयान " से प्रभावित मानते हैं। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि इस पर सरहपा, मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ आदि साधकों का अतिशय प्रभाव है। अन्य विद्वानों का मत हैं कि इस साधना प्रणाली का मूल उद्गम आर्ष ही है और इसके प्रमुख उपाख्याता श्री रामानन्दाचार्य जी रहे हैं जो कबीर आदि प्रसिद्ध सन्तों के गुरु थे, जिन्होंने सन्तमत को पुरस्कृत किया और विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की।

वस्तुतः भारत का मध्यकालीन इतिहास सिद्धों, नाथों, शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, वेदांतियों, ज्ञानमार्गियों, कर्मकांडियों आदि के द्वन्द्व का इतिहास है। इसी काल में यहां के धर्म प्रवर्तकों ने दर्शन की दृढ़ आधारभूमि पर भक्ति के एक शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात किया। यह आन्दोलन रहस्यवाद को लेकर कार्यक्षेत्र में उतरा। इसके अन्तर्गत नाथ सम्प्रदाय की योगसाधना तथा अन्य संतों की योगसाधना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कर्नाटक एवं महाराष्ट्र के संतों ने मिल कर इस का एक परम्परा के रूप में निर्वाह किया तथा अपनी इस परम्परा की साधनभूत प्रणाली (रहस्यवाद) को जो विशेष रूप से महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई, को आगे बढ़ाया।

रहस्यवाद मौन निदिध्यासन की प्रक्रिया है। इसका कोई सैद्धान्तिक स्वरूप नहीं है। रानडे के शब्दों में[1] " सभी युग और देशों के रहस्यवादी एक ही भाषा बोलते हैं क्योंकि वे एक ही आध्यात्मिक देश के निवासी हैं। उनमें कोई भी जाति, समाज अथवा राष्ट्र का भेदभाव नहीं है। देश काल का उनके आध्यात्मिक अनुभव के शाश्वत् एवं अनन्त स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं है।"

रानडे के इस कथन से यही ध्वनित होता है कि रहस्यवाद का स्वरूप सभी देशों एवं राज्यों में समान ही रहा है। महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का नामकरण तो उन्होंने महाराष्ट्रीय संतोंकी साधना प्रणाली को विशेष रूप से उत्कृष्ट बताने के लिए किया। इसमें इन्होंने रहस्यवाद का पूर्ण समावेश देखा। अतः प्रभावित होकर उसे महाराष्ट्रीय रहस्यवाद की संज्ञा दे दी। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उन्होंने 'मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र[2]' नामक पुस्तक लिखी जिसके अन्तर्गत महाराष्ट्र एवं कर्नाटक के संतों के उपदेशों का वर्णन किया। उपरोक्त पुस्तक के प्रारम्भ में रानडे ने रहस्यवाद के सामान्य लक्षण का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूति ईश्वर साक्षात्कार का प्रथम प्रयास है और इसके द्वारा ईश्वर का अन्तर्दर्शन होता है। इसके अन्तर्गत भक्ति पूर्ण भावना का विकास एवं मौन आनन्दभोग के मार्ग का स्पष्ट वर्णन परिलक्षित है।

महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का तात्पर्य है-महाराष्ट्रीय संतों द्वारा ईश्वरानुभूति के लिए प्रयुक्त साधन प्रणाली। रानडे ने यह पहले ही स्पष्ट किया है कि सभी संत भक्ति को ही परमसाधन मानकर ईश्वर साक्षात्कार का प्रयास करते हैं अतः आत्मा की अन्तर्शक्ति अर्थात् प्रज्ञा-द्वारा वे परमतत्व की ओर क्रमशः बढ़ते हैं। यद्यपि महाराष्ट्रीय रहस्यवाद उपनिषदीय प्रणाली का अनुकरण करता है फिर भी उसकी कुछ मौलिक उपलब्धि अवश्य है। यह ईश्वर का एक प्रशान्त एवं

1-पाथ वे टु गाड. रानडे (भूमिका) पृ. 2

2-मिस्टिीसिज्म इन् महाराष्ट्र-रानडे प्रका. आर्य भूषण प्रेस पूना, 1933पृ. 494

भक्तिपूर्ण मनन है। अतः वैयक्तिक साधना में विशिष्टता आ जाना स्वाभाविक है। इसी विशिष्टता के कारण रानडे ने महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के प्रमुख संतों के विषय में कहा हैं, " ज्ञानेश्वर हैं ज्ञानयोगी। नामदेव प्रजातन्त्रयुग के अग्रणी हैं। एकनाथ ने सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के श्रेयों का समन्वय किया। तुकाराम का भक्तियोग सगुणेश्वरमय है और रामदास महान् कर्मयोगी संत हैं।[3] इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का स्वरूप गीता एवं उपनिषद् दर्शन से ही उद्धृत है। इसमें संतों के उपदेशों का जो सामान्य पुट प्रवाहित हुआ है वही विशेष रूप से महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के नाम से जाना गया।

महाराष्ट्रीय रहस्यवाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत गुरुका स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। बिना गुरु के मार्ग निर्देशन के आत्मानुभूति एवं ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता, ऐसा सभी महाराष्ट्रीय संतों ने माना है। गुरु शिष्य का यह सम्बन्ध संत रामदास के समय में इतना परिपक्व हो चुका था कि इसके प्रभाव से महाराज छत्रपति शिवाजी ने अपना सम्पूर्ण राजपाट अपने गुरु संत रामदास के चरणों में दक्षिणा स्वरूप अर्पित कर दिया था और स्वयं उनके आज्ञाकारी सेवक के रूप में राज्य किया।

महाराष्ट्र की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत जितने भी संत पैदा हुए, उन सभी ने मौनधारण की प्रक्रिया स्वीकार नहीं की बल्कि वे आध्यात्मिक अनुभूति का दर्शन, स्पर्शन् और सम्भाषण के क्रम से उसका वर्णन किया करते थे। कन्नड़ संतों में इस आनन्द स्वरूप तत्व को प्राप्त करने में उनकी आत्मानुभूति प्रक्रिया का विशेष योगदान रहा। वे ईश्वर आराधनारूपी अग्नि में अहम् की पूर्णतः आहुति दे देते थे। यही कारण है कि वे अपनी अद्वैतानुभूतियों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति कर सकें।

3–रानडे का दर्शन: संपा. प्रो. संगमलाल पाण्डेय. ले. वेरियर इलविज पृ. 211

महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के पोषक कन्नड़ संतों में उपदेशात्मक प्रणाली का दर्शन होता है। इनके उपदेश मूलतः नैतिक और आध्यात्मिक हैं। किन्तु वे मनोवैज्ञानिक और तात्विक विश्लेषण से शून्य नहीं हैं। उनके लिए व्यावहारिक विश्व न तो अन्ततः सत् है और न तो असत् है। प्रारम्भ में यह सत् प्रतीत होता है परन्तु आत्म–बोध के अनन्तर भिन्न रूप वाला हो जाता है। जो संसार अभी तक निरर्थक लगता था, वही सार्थक हो उठता है। विश्व में सर्वत्र वे ईश्वर का ही दर्शन करते हैं। ईश्वरार्पण भाव से ईश्वर का भक्तिपूर्ण मनन ही उन्होंने ईश्वर साक्षात्कार का सहज एवं सुगम मार्ग बतलाया। महाराष्ट्रीय रहस्यवाद की यह विशेषता इस रूप में अन्यत्र नहीं मिल पाती। इसीलिए रहस्यवादी दर्शन में महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का अभूतपूर्व योगदान रहा है।

महाराष्ट्रीय सन्त ईश्वर, ब्रह्म विद्या, अविद्या, और पुनर्जन्म आदि तत्वों की विवेचनामें बेजोड़ हैं। नैतिक आदर्शों के सांगोपांग विवेचन में वे अत्यन्त दक्ष हैं। अनाहतनाद एवं अप्रकाशित प्रकाश आदि विलक्षण अनुभवों का वर्णन इन्होंने आत्मानुभूति के संदर्भ में ही किया है और बताया है कि यह ईश्वर-साक्षात्कार का पूर्ण संकेत है। इस अनुभूति के बाद ही परम साक्षात्कार का स्तर आता है। जहां तक योग साधन का प्रश्न है कन्नड़ सन्तों ने मुद्राओं, षट्चक्रों, आसनों एवं हठयोग आदि का विस्तृत विश्लेषण, आत्मानुभूति प्रक्रिया के संदर्भ में ही किया है। इनमें अधिकांश संतों ने इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, श्रृंगाटक, आदि का वर्णन भी रहस्यानुभूति के संदर्भ में किया है।

अब इन संतों का अध्ययन क्रमशः उनकी साधना पद्धति एवं रहस्यानुभूति के संदर्भ में अलग-अलग सोपानों में करेंगे ताकि महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का पूर्ण विकास सम्यक् रूप से परिलक्षित हो सके।

महाराष्ट्रीय संत परम्परा के रहस्यवाद के अन्तर्गत विशेषरूप से कन्नड़ संतों का उल्लेख मिलता है। यह एक परम्परा के रूप में दृष्टिगत है। भारतीय पुनर्जागरण काल में देश की धार्मिक, राजनीतिक एवं

सामाजिक व्यवस्था पूर्णतः विनष्ट हो चुकी थी। ऐसे समय में दक्षिण भारत में विशेषतया महाराष्ट्र एवं कर्नाटक प्रदेश की भूमि पर एक सम्प्रदाय का दर्शन हुआ, जो नाथ सम्प्रदाय के नाम से व्यवहृत हुआ। इन सम्प्रदायों में नाथ और संत सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः महाराष्ट्र के संतों की दो परम्परायें थीं। प्रथम वे संत हैं जिनकी परम्परा वारकरी सम्प्रदाय के संतों से प्रारम्भ होती है और उनके गुरु कोई न कोई वैष्णव ही होते थे। दूसरी परम्परा में वे संत हैं जिन के गुरु नाथ पंथी होते थे। शुद्ध नाथ पंथी जो अपनी दीक्षा परम्परा, साधना पद्धति एवं दार्शनिक विचारधारा आदि की पुष्टि से स्वीकार किये जायं, महाराष्ट्र के हिन्दी संतों में प्रायः नहीं मिलते। केवल उनका मिला जुला रूप ही मिलता है। दीक्षा परम्परा की दृष्टि से अपने को नाथ पंथी कहने वाले पहले संत ज्ञानदेव हैं किन्तु पं. विनयमोहन शर्मा ने उन्हें वारकरी भक्त माना है।[4]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ज्ञानदेव को नाथ सम्प्रदाय से ही संबद्ध माना जाता है तथा संस्थापक के रूप में भी इन्हीं का उल्लेख मिलता है। महाराष्ट्रीय संत परम्परा के अन्तर्गत "संत पंचायतन" का अध्ययन किया जाता है। संत पंचायतन के अन्तर्गत कर्नाटक प्रदेश एवं महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम एवं रामदास का नाम उल्लेखनीय है। इन पाँचों संतों ने महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का आजीवन निर्वाह किया तथा अपनी रहस्यानुभूतिपरक सदुपदेशों से समाज का कल्याण किया। अपने साधनामार्ग पर इन संतों ने विलक्षण अनुभवों की प्राप्ति की जिसका निर्देश उन्होंने अपनी कृतियों में स्पष्ट रूप से किया है। इन संतों के अतिरिक्त भी उस समय अन्य संतों ने भी इस परम्परा का अनुकरण किया, परन्तु मौलिक दर्शन की प्रतिष्ठा एवं आत्मानुभूति के जागरण के संदर्भ में वे इतने प्रसिद्ध न हो सके।

इस संत परम्परा का प्रारम्भ गोरखनाथ से होता है। कुछ विद्वान रामानन्दाचार्य से इसका प्रारम्भ मानते हैं किन्तु महाराष्ट्रीय संतों ने

4-हिन्दी में मराठी संतों की देन:- पं. विनय मोहन शर्मा पृ. 88
प्रका. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद 1957

गोरखनाथ को ही अपना आदिगुरु माना इसलिए सम्प्रदाय का प्रारम्भ इन्हीं से मानना उचित है। संत ज्ञानेश्वर इसके व्यवस्थित अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि संत ज्ञानेश्वर के समय तक सम्प्रदाय छिन्नभिन्न था। उसमें संगति का अभाव था। सम्प्रदाय के अन्तिम संत रामदास माने जाते हैं क्योंकि इसके पश्चात् महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का अन्य किसी संत के संदर्भ में उल्लेख नहीं मिलता। रानडे ने भी अपनी महाराष्ट्रीय रहस्यवाद की पुस्तक 'मिस्टिसिज्म इन् महाराष्ट्र' में रामदास का ही उल्लेख अन्तिम संत के रूप में किया है। इस सम्प्रदाय का भारतीय इतिहास पर प्रभाव बताते हुए डा. रामकुमार वर्मा ने लिखा है, "गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहां एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गयी है, वहीं दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढियों पर कठोर आघात भी किया गया है। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहजमार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने ही किया।[5]

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से यद्यपि भक्ति काल के सभी संत रहस्यवादी मान लिए गये हैं किन्तु हमें नाथों एवं संतों के साहित्य में उपलब्ध रहस्यवादी पद्धति की तुलना कर लेना आवश्यक है। महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ कविराज के अनुसार नाथों का सम्बंध काश्मीर शैवमत अथवा उत्तरी शैवमत से है। कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने गोरखनाथ से इसका सम्बन्ध बताया है। रानडे द्वारा लिखित पुस्तक 'मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र' में गोरखनाथ को इस रहस्यवादी सम्प्रदाय से सम्बद्ध माना गया है। डा. मोहन सिंह ने गोरखनाथ को हिन्दू रहस्यवाद तथा मध्ययुगीन भाषा साहित्य का सर्व प्रथम ऐतिहासिक रहस्यवादी माना है। इन संतों की रहस्यवादिता के

5–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा. रामकुमार वर्मा तृ. सं. 1954 पृ. 117।

सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। हिन्दी के सगुण मार्ग के कवियों को जिस प्रकार रहस्यवादी मानने में उक्त पाश्चात्य विद्वानों की सहमति है उसी प्रकार रानडे ने भी अपनी पुस्तक ' पाथ वे टु गाड ' में भक्तिकालीन सभी संतों को रहस्यवादी माना है। किन्तु पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के तत्व को रहस्यवाद का मुख्यतम तत्व मानकर सगुण मार्गियों में इसका अभाव दिखाया है। उनका कथन तो यहां तक है कि भक्ति के अन्तर्गत रहस्य और गुह्य नामकी किसी चीज का कोई स्थान नहीं है। रानडे ने उपरोक्त संत पंचायतन को रहस्यवाद से ही सम्बद्ध माना है। अतः इसके अन्तर्गत आनेवाले सभी संत रहस्यवादी थे, यह निर्विवाद रूप से सत्य है।

अब इन संतों का अध्ययन उनकी वैयक्तिक साधना के सन्दर्भ में प्रस्तुत करना आवश्यक है ताकि उनसे प्राप्त रहस्यवादी शिक्षाओं का पृथक् पृथक् अवलोकन हो सके।

प्रामाणिक रूप से महाराष्ट्रीय संत परम्परा का विकास तेरहवीं शतीं से सत्रहवीं शती के मध्य माना जाता है। इस सन्त परम्परा का महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के दृष्टिकोण से प्रारम्भ ज्ञानेश्वर से ही होता है। विद्वानों का मत है कि ज्ञानेश्वर ने तेरहवीं शती में इस पथ का आरम्भ किया।[7] परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है क्योंकि यह सम्भवतः बहिणाबाई नामक तुकाराम की शिष्या के एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है।

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही अलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नहीं रखता परन्तु यहां ज्ञानदेव द्वारा " पाया " शब्द के प्रयोग करने का अर्थ यह नहीं कि उन्होंने ही इस मत का प्रारम्भ किया। सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व भी इस सम्प्रदाय में भक्त विद्यमान थे, परन्तु उनको संगठित करने एवं पंथ को सुव्यवस्थित करने का श्लाघनीय

7– भागवत सम्प्रदाय – बलदेव उपाध्याय पृ. 572

कार्य ज्ञानेश्वर ने ही किया। इसलिए वे सम्प्रदाय के मान्य आचार्य एवं प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। वैसे तो ज्ञानेश्वर इस सम्प्रदाय को अपने पिता के गुरु रामानन्द की शिक्षाओं से अनुग्रहित मानते हैं। परन्तु इसे रहस्यवादी परम्परा से जोड़ने का कार्य ज्ञानेश्वर ने ही किया।

ज्ञानदेव :– संत ज्ञानेश्वर का जन्म सं. 1332 ई. में आलंदी में हुआ था। इनके पिता का नाम विठ्ठलपन्त था जो संन्यास धर्म में दीक्षित थे, परन्तु अपने गुरु रामानन्द स्वामी के वरदान प्रयुक्त अत्याग्रह से वे पुनः लौकिक जगत् में आ गये थे। निवृत्तिनाथ और सोपानदेव इनके अन्य दो भाई थे, तथा बहिन मुक्ताबाई थीं। संन्यासी की संतान होने के कारण इन चारों को ब्राह्मणों के हाथ तिरस्कार और अनादर सहना पड़ा था, परन्तु ज्ञानदेव अलौकिक सहज सिद्ध योगी थे। अतः वे इस अनादर से विशेष प्रभावित नहीं हुए। 22 वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने जीवित समाधि ली थी और उसके एक वर्ष बाद उनके भाई तथा बहिन ने भी एक एक करके इसी का अनुकरण किया।[8]

ज्ञानेश्वर जाति से मराठा ब्राह्मण थे। सामाजिक तिरस्कार के परिणामस्वरूप ये जातिगत भेद भाव नहीं मानते थे। इनकी योग साधना इतनी प्रबल थी कि मुसलमानी आतंक के बावजूद इस परम्परा का इन्होंने निर्वाह किया। अपने संत जीवन में इन्होंने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि एक बार लोगों ने ज्ञानदेव द्वारा भैंसा के मस्तक पर हाथ रखने से उसके मुंहसे ऋग्, यजु और साम वेद के मंत्रों को विधिवत् उच्चारित होते हुए सुना। रानडे ने इनके सम्बन्ध में कहा है, " ज्ञानदेव एक ऐसे सन्त थे जो हमारे सामने अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक साधु जीवन का अनुकरण करते रहे। वह साधु बनाया न गया बल्कि स्वयं बना हुआ था।"[9]

---

8 - भागवत सम्प्रदाय – बलदेव उपाध्याय पृ. सं. 577

9– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र: रानडे पृ. सं. 355

उनका आध्यात्मिक रहस्यवाद एकेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद दोनों को अपने विचारों में सन्निहित करता है। रानडे ने इसी संदर्भ में यह कथन प्रस्तुत किया है, " न तो शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में और न तो द्वैत दर्शन में ही जो पूर्णतया आप्तकामी है, दो रूप नहीं वर्णित हुए हैं, लेकिन आध्यात्मिक अनुभव जो दोनों का समावेश करता है, और उनका अतिक्रमण भी करता है, में एक शान्ति मिलती है।"[10]

ज्ञानदेव ने रहस्यवादी प्रक्रिया एवं अनुभूति को अपने आप में पूर्ण माना है। इसके लिए वे किसी ज्ञान तप या कर्मकांड की आवश्यकता नहीं मानते। उनके ही शब्दों में, " आनन्द साधक के पास स्वयं आता है। यह अपने प्रभाव में इतना शक्तिशाली है कि इसको सुनने से ही सांसारिक सत्ता लुप्त हो जाती है और नित्यता हमारे पास स्वयं आ जाती है।"[11]

ज्ञानेश्वर की असीम भक्ति का अनुमान ज्ञानेश्वरी के इस कथन से लगाया जा सकता है कि वे इस क्षेत्र में कितने प्रवीण थे। " जब मैं ध्यानस्थ हुआ तब आपके दिव्यरूप के दर्शन हुए। वह मणि सा मोहक था, प्रज्ज्वलित अग्नि के समान उज्ज्वल था, मणियों से गूंथे हुए सूर्य के समान उज्ज्वल था और करोडों शशि सूर्य के प्रकाश से भी अधिक चमकीला था।"[12] इस प्रकार हम देखते हैं कि संत ज्ञानदेव की साधना भक्ति प्रधान सगुण उपासना से परिपूर्ण रहस्यवादी प्रक्रिया का अनुकरण करती हुई, निश्चित लक्ष्य को नित्य प्राप्त मानती थी। ज्ञानेश्वर की भक्ति का जो स्वरूप रानडे ने अपनी पुस्तक मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र में प्रस्तुत किया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे महान योगी थे।

ज्ञानदेव के रहस्यवाद को प्रकारान्तर से बौद्धिक रहस्यवाद माना जाता है क्योंकि उसका उद्भव भगवद्गीता की दार्शनिक भूमि से हुआ

10- मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र: रानडे पृ. सं. 179

11-ज्ञानेश्वरी : ज्ञानेश्वर 192-200

है। गीता का प्रभाव इनके ऊपर विशेष रूप से पड़ा। गीता की मूल शिक्षाओं को लेकर उसे और अधिक सरल प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत करनेका प्रयास इनकी सफलता का परिचायक है। गीता पर भाष्य प्रस्तुत करते हुए इन्होंने उसके सम्पूर्ण तथ्यों को ग्रहण किया और उसे एक ग्रंथ के रूप में निवद्ध किया। उनका यह ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चूँकि इसमें गीता के श्लोकों की व्याख्या उसी के अनुरूप की गई थी। अतः विद्वानों के बीच यह अत्यधिक गौरवान्वित हुई। ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता की अद्वितीय व्याख्या है। इसकी रचना ज्ञानेश्वर ने पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में ही की थी। लगातार तीस वर्षों तक ज्ञानेश्वर कृत ज्ञानेश्वरी में परवर्ती संतों एवं विद्वानों द्वारा मूलभूत सुधार भी होता रहा जिसके कारण ज्ञानेश्वरी की विषय (वस्तु) यद्यपि कुछ अंशों में परिवर्तित हो गयी है तथापि ज्ञानेश्वर कृत संदर्भों को निकाला नहीं गया। उसमें और अधिक तथ्यों का समावेश करके ग्रन्थ की क्षमता में मात्र वृद्धि ही की गयी।

ज्ञानेश्वरी की रचना के प्रारम्भ में गोस्वामी तुलसीदास के "बन्दौं गुरु पद पदुम परागा" की भाँति क्रमशः गणेश एवं गुरु की वन्दना की गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानेश्वर की गुरु के प्रति असीम आस्था थी। उन्होंने अपने गुरु के प्रति ज्ञानेश्वरी के प्रथम अध्याय में ही लिखा है, "जैसे कि वृक्ष की जड़ को सींचने पर यह पल्लवित होकर शाखाओं में विभक्त हो जाती है, जिस प्रकार मनुष्य सागर में स्नान करके यह कह सकता है कि उसने संसार की पवित्र नदियों में स्नान किया है, जिस तरह वह परमानन्द जब एक बार प्राप्त हो जाता है तब सभी समरूपतायें अपने आप प्राप्त हो जाती हैं, उसी तरह जब गुरु सम्यक् रूप से प्रसन्न कर लिया जाता है तो सभी इच्छायें अपने आप पूर्ण हो जाती हैं।"[13] उन्होंने गुरु के विषय में पुनः यह कहा है, "ओ गुरु की असीम कृपा! जो तुम्हारे द्वारा अनुमोदित होता है वह संसार के निर्माण रूपी ज्ञान का अधिष्ठाता बन जाता है।"[14]

13–हिस्टारिकल इन् महाराष्ट्रः रानडे, पृ 49

14–ज्ञानेश्वरा – ज्ञानेश्वर 13, 9

ज्ञानेश्वर बताते हैं कि ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने के लिए सन्तों से प्रेम करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि वे सन्त ही उस दिव्य परमात्मा के दर्शन का मार्ग निर्देशन करते हैं। ये सन्त ज्ञान के साक्षात् मंदिर हैं। हमारी सेवा ही इनके प्रवेश द्वारों का निर्माण करती है। हमें अहं का परित्याग कर अहर्निश उनकी सेवा में तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने पर सम्पूर्ण संसार ईश्वर में ही दिखायी पड़ने लगता है। इससे मूर्खतापूर्ण प्रेम का अन्त हो जाता है ज्ञान का प्रकाश स्वतः प्रकाशित हो जाता है और गुरु अपनी कृपा से भक्त को कृतकृत्य बनाने में सक्षम होता है।[15]

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञानेश्वर का विचार है कि कभी प्रगट होता है, कभी अदृश्य हो जाता है। वह साधक के सामने तरह-तरह के रहस्यपूर्ण अभिनय करता है। संत ज्ञानेश्वर ने इसका बड़ा ही मार्मिक उल्लेख प्रस्तुत किया है जो इन पँक्तियों से स्पष्ट हो जाता है, " दिसे तव तब लये। लपे तब तब अभ्भासे। " उन्होंने बताया कि जब साधक ईश्वर का दर्शन करना चाहता है तब वह नहीं दिखायी पड़ता। यदि साधक उससे मुँह मोड़ता है तो ईश्वर उसे दूसरी दिशा में दिखायी पड़ता है जैसा कि अर्जुन को श्रीकृष्ण दिखायी पडे थे।

इस विरोधाभास का ज्ञानेश्वरी के ११ वें अध्याय मे बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। यदि साधक ईश्वर को छूना चाहता है तो ईश्वर ऐसा न होने देगा। ज्ञानेश्वर का इससे यही तात्पर्य था कि उसे जानने के लिए इन्द्रियों का प्रयोग निरर्थक है। वह तो मात्र आत्मानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है। ईश्वर के दर्शन के विषय में वे भी ऐसी ही अनुभूति व्यक्त करते हैं, " जब मैंने आपके तेज को देखने का प्रयास किया तो करोडों सूर्य का प्रकाश मेरी आँखों के सामने से गुजरा। कितना महान् आश्चर्य। आप का रूप करोडों विजलियों से विभूषित था।[16]" इसी स्थल पर ज्ञानेश्वर ने यह तर्क दिया कि जिस वस्तु को

15–ज्ञानेश्वरी-ज्ञानेश्वर 165-171

16-रानडे का दर्शन : संपादक, प्रो. संगम लाल यादव पृ. 236
वि. बी. आर. कुलकर्णी;

आँखें देखने में असमर्थता व्यक्त करती हैं, उसे वे बिना आँख की सहायता से देख सकते हैं।

ज्ञानेश्वर ने इन समस्त तथ्यों का समावेश अपनी पुस्तक ज्ञानेश्वरी में किया है। उसमें ऐसा कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है। जिसकी अनुपस्थिति से आत्मानुभूति प्रक्रिया में बाधा पड़े। ज्ञानेश्वरी में उन्होंने बताया है आत्मानुभूति का सबसे सशक्त पहलू है गुरु का वरण। यदि सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी है तब ईश्वर साक्षात्कार में कोई सन्देह नहीं रह जाता। ज्ञानेश्वरी में संतों की जागरूकता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ये साधुओं! यह आध्यात्मिक ज्ञान का पौधा तुम्हारे द्वारा ही बोया गया है। अब तुमसे यही अपेक्षा है कि तुम अपने एकाग्र चिन्तन से इसका विकास करो। तब यह पुष्पित होगा और विभिन्न प्रकार के फलों को जन्म देगा। तुम्हारी ही कृपा से यह संसार में अपना अस्तित्व रख सकता है।

अन्यत्र भी उन्होंने संतों को लोककल्याण के प्रति जागृत किया है, "यदि हंस स्वच्छंन्दता पूर्वक पृथ्वी पर विचरण करता है तो क्या वह अन्य प्राणी को विचरण करने से रोकता है? यदि आकाश समुद्र में प्रतिविम्वित होता है तो क्या वह छोटे से तालाब में अपना प्रतिविम्व डालने से इंकार कर सकता है?[18]"

ज्ञानेश्वरी के नवें अध्याय में ज्ञानेश्वर ने पुरुष एवं प्रकृति के अवियोज्य सम्वन्ध का वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि किस प्रकार आत्मन् एक शाश्वत् द्रष्टा है तथा प्रकृति पूर्ण रूपेण कर्ता है।[19] प्रकृति एवं पुरुष की व्याख्या की तरह ही उन्होंने भगवद्गीता के "क्षर" एवं अक्षर की भी व्याख्या की है। क्षर का अर्थ इन्होंने परिवर्तनीय एवं विनाशशील वस्तु से लिया इसके विपरीत अक्षर का अर्थ

17–ज्ञानेश्वरी–ज्ञानेश्वर, 160-162
18–ज्ञानेश्वरी–ज्ञानेश्वर, 115–120
19–ज्ञानेश्वरी-ज्ञानेश्वर, 106–107

अपरिवर्तनीय शाश्वत् एवं स्थिर बताया। पुनः ज्ञानेश्वर बतलाते हैं कि जब हम पुरुष और प्रकृति तथा क्षर एवं अक्षर का तादात्म्य देखते हैं तो उसका मनोवैज्ञानिक आधारमूल्य क्या होता है? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि आत्मा एवं शरीर का मनोवैज्ञानिक मूल्य है। शरीर के सम्बन्ध में बताया कि यह विभिन्न प्रकार के तत्वों का मिश्रण है जिस प्रकार एक रथ उसके सभी अंगों को जोड़कर ही जाना जा सकता है इसी प्रकार आत्मा छत्तीस तत्वों का मिश्रण है। आत्मा शरीर को प्रतिबम्बित करती है जैसे सूर्य झील को। पुनः शरीर के संदर्भ में ज्ञानदेव का कथन है, " शरीर कर्मों के प्रभाव का परिणाम है एवं जन्म मृत्यु के साथ चक्कर लगाता रहता है। यह आग में फेंके हुए मक्खन के टुकडे के समान है।-- मृत्यु में उतना ही समय लगता है जितना कि पक्षी को उड़ने के लिए पंख फैलाने में समय लगता है।"[20]

आत्मा के पश्चात् ईश्वर के स्वरूप का उल्लेख करते हुए ज्ञानेश्वर ने कहा कि ईश्वर वास्तविक रूप से संसार से अलग नहीं है। वह संसार में ही अन्तर्यामी है। घट-घट में व्याप्त और सर्वत्र चेतन है। आत्मा और ईश्वर के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् ज्ञानेश्वर दोनों की तादात्म्य अवस्था का वर्णन प्रस्तुत करनेको अग्रसर होते हैं। उन्होंने इस मार्ग को अत्यंत सरल एवं सुगम बताया। उनके अनुसार इस मार्ग को कोई भी साधक सहज ही अपना सकते थे। ईश्वर साक्षात्कार के प्रसंग में उन्होंने कहा, ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग साधक की अनुभूतियों के पदचिह्नों में स्पष्ट दिखायी पड़ता है उन्हें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वरानुभूति करनेवाले साधक इसी मार्ग से महान् बने हैं। इस मार्ग पर चलता हुआ साधक दिन और रात्रि का अन्तर नहीं जान पाता।[21] ज्ञानेश्वर ने रहस्यानुभूति प्रक्रिया में आवश्यक सभी तथ्यों का उल्लेख अपनी एकमात्र पुस्तक ज्ञानेश्वरी में किया है। वे आजीवन इस पुस्तक को नवीन रहस्यपूर्ण तथ्यों से परिपूर्ण करने की

20-मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे पृ. सं. 55-56

21-मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र-रानडे पृ. सं. 56-57

चेष्टा करते रहे। सम्प्रदाय के एक व्यवस्थापक के रूप में इनका यह कार्य अत्यन्त श्लाघनीय रहा क्योंकि इनके उपदेश एवं कृति ने ही परवर्ती दार्शनिकों को मार्ग दर्शन लिया जिसके आधार पर सम्प्रदाय आगे वढ़ा। महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के एक प्रमुख आचार्य के रूप में उल्लेख करते हुए रानडे ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि संत ज्ञानेश्वर ने वास्तव में महाराष्ट्र की खोयी हुई आध्यात्मिक चेतना को वापस लाने में सराहनीय कार्य किया।

नामदेव :– ज्ञानदेव की इस परम्परा का निर्वाह आगे चलकर महात्मा नामदेव की संरक्षता में सम्पन्न हुआ। महाराष्ट्र की सन्त परम्परा अर्थात् "सन्त पंचायतन" में नामदेव का भी महत्व पूर्ण स्थान है। ज्ञानेश्वर के समकालीन होने के कारण दोनों के साध्य एवं साधन में समरूपता है। दोनों एक साथ ही भ्रमण करते थे तथा अपनी उपदेशात्मक दर्शन प्रणाली से लोगों को कृतकृत्य करते थे। दोनों की रहस्यवादी पृष्ठभूमि की संरचना एक प्रकार की अवसादीय चट्टान से हुई है। नामदेव द्वारा प्रतिपादित ईश्वरानुभव का मार्ग वैसा ही सहज एवं सुगम्य है जैसा कि ज्ञानेश्वर का मार्ग था।

नामदेव का जन्म कार्तिक सुदी 11 सं. 1326 ई. में सातारा जिले के "नरसी वयनी" गांव में हुआ था। ये जाति के दर्जी थे। डा. भण्डारकर का कथन है कि सन्त नामदेव की मराठी कविता ज्ञानेश्वर की कविता से अधिक परिष्कृत इसलिए है कि नामदेव ने मात्र उपदेशों के माध्यम से ही अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। उन्होंने किसी ग्रन्थ विशेष का निर्माण नहीं किया।

नामदेव ने निर्गुण सम्प्रदाय से अपने को सम्बद्ध माना है। उनके समय में धार्मिक स्थिति यह थी कि नाथ सम्प्रदाय पूर्णतयः स्थापित हो चुका था। उससे सम्बन्धित समस्त सन्त अलख निरंजनकी योग-परक साधना के प्रचार में व्यस्त थे। इसी बीच नामदेव ने भी योग साधना को अभंगों के माध्यम से समझना प्रारम्भ किया।

परमात्मा की सर्वव्यापकता, जगत् की निस्सारता एवं आत्मा की अनन्त शक्ति का अभंगों के माध्यम से वर्णन करते हुए उन्होंने ज्ञानेश्वर की साधना से समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। ज्ञानेश्वर की ही भाँति उन्होंने भी ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में कहा है। ---

एक अनेक विआपक पूरक, जत देवहु तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहित बिला बूझे कोई ॥

उपर्युक्त पद में " चित्र विचित्र " शब्द की सार्थकता को जगत् की रचना के संदर्भ में बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि " चित्र विचित्र " के साथ " माइआ " शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्म ने अपनी माया शक्ति के द्वारा ही इस विचित्र एवं नानाविधमूलक संसार की रचना की है।

नामदेव द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप स्वच्छ है पर अज्ञानता वश मनुष्य बन्धन में पड़ा रहता है। इस संसार को समुद्र मानते हुए बीठन को ही वे सेवनहार बताते हैं। ईश्वर के प्रति अपने अनन्य प्रेम को व्यक्त करते हुए नामदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, " जिस प्रकार मधु मक्खियों का समुदाय फूल के सौरभ पर आसक्त होता है अथवा उड़कर शहद एकत्र करता है ठीक उसी प्रकार मेरे मन को ईश्वर के चरणों में आसक्त होना चाहिए।"[22]

नामदेव की साधना भक्ति प्रधान सगुण उपासक की थी। वे ईश्वरीय अनुकम्पा को बहुत बड़ा महत्व देते थे। ईश्वरीय कृपा से सम्पूर्ण जड़ जगत् का मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है तथा परब्रह्म के प्रकाशमय रूप का दर्शन होता है। जगत् के मिथ्या ज्ञान के पक्ष में उन्होंने कहा है, " यह छोटा सा संसार ब्रह्म को जो एक मात्र कर्ता है, छिपा लेने की शक्ति रखता है।"[23]

ईश्वर के नाम स्वरूप एवं महात्म्य का वर्णन नामदेव इन शब्दों में करते है, " यदि मैं अपनी साधना को तुम्हारे चरणों में अर्पित

22- अभंग- 11 23- अभंग- 16

कर दूं तो मेरा जीवन क्रम टूट जायेगा और यदि मेरी वाणी में ईश्वर नाम की धारणा का समापन हो जाता है तो जिह्वा हजारों खण्डों में विभक्त हो जायेगी। यदि मेरी आंखें तुम्हारें दिव्य रूप को देखने में चूक जाती हैं तब वह हठात् उस स्थान से सदा के लिए बाहर निकल जावेंगी।"[24]

नामदेव का विश्वास था कि ईश्वरानुभूति की प्राप्ति ईश्वरीय अनुकम्पा से ही सम्भव है। एक बार ईश्वरानुभूति प्राप्त कर लेने पर बार बार प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि फिर तो स्मरण मात्र ही पर्याप्त होता है। केवल उस अनुभूति की धारणा को क्रमशः उनके दिव्य रूप के संदर्भ में हृदय में जागृत करते रहना चाहिए। यही मुक्ति का मार्ग है। इसी मार्ग पर साधक परम लाभ की प्राप्ति कर सकता है, ऐसा नामदेव ने अपने अभंगों के माध्यम से बताया है।

नामदेव का मत है कि मनुष्य की ईश्वर साक्षात्कार की प्रवृत्ति ईश्वर प्रदत्त है। इसका उदाहरण वे गाय के उस बछडे से देते हैं, जो जंगल में पैदा होता है। उसका पालन वहां ईश्वर के अतिरिक्त और कौन करता है? अर्थात् ईश्वर ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है कि मनुष्य का तदनुकूल मार्ग स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः यह पूर्णरूपेण सत्य है कि ईश्वर मनुष्य की प्रवृत्ति को उसकी प्रकृति के अनुरूप ही नियमित करता है। नामदेव ने बताया कि एक बार ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त हो जाने पर पुनः ईश्वर के दर्शन की आवश्यकता नहीं है। फिर तो उसका अन्तःदर्शन स्वानुभूति प्रक्रिया से होता ही रहेगा। मात्र स्मरण ही पर्याप्त सिद्ध होता है। ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से नामदेव का यह कथन उल्लेखनीय है, " हमें अपनी भूख और प्यास दोनों को ईश्वर के नाम के आगे तिरस्कृत कर देना चाहिए। जो ईश्वर अमरता का एकमात्र श्रोत है तथा नामदेव के हृदय में विद्यमान है उसीका वे निरन्तर आनन्दानुभव कर रहे हैं।"[25]

24- अभंग— 49 25- अभंग— नामदेव, 139

ईश्वर प्राप्ति के संदर्भ में नामदेव बहुत ही सजग है क्योंकि आत्मानुभूति का परम लक्ष्य ईश्वरानुभव ही है। सामाजिक उन्नयन के लिये अपनी बाणी को उन्होंने उन सभी व्यक्तियों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है जो अज्ञानवश अपने आप को नहीं जान पाते हैं। आत्मज्ञान द्वारा वे सिद्ध कर देना चाहते थे कि ईश्वर का साक्षात् दर्शन आत्मा में ही हो सकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही रूप है। रूप ज्ञान से पूर्णता की ओर पहुँचा जा सकता है, ऐसा उद्घोष नामदेव ने किया। उन्होंने वास्तविक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ईश्वरानुभूति को ही महत्वपूर्ण बताया। उनके ही शब्दों में– " बेचारे ब्राह्मण ईश्वर के वास्तविक साक्षात्कार मार्ग को नहीं जानते। ईश्वर प्राप्ति केवल उसके नाम की सतत् धारणा से ही सम्भव है। मैं उन युवक एवं वृद्धों का ईश्वर नाम की तीव्रधारणा के लिए आह्वान करता हूँ। अपने सभी धार्मिक उत्सवों में उन्हें ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के बारे में नहीं सोचना चाहिए। "[26]

आत्मानुभूति एवं नामस्मरण की साधना द्वारा ही मोक्ष की कामना करते हुए नामदेव का यह कथन सर्वथा उल्लेखनीय है, " गन्ना कभी भी अपने मीठेपन का परित्याग नहीं करता चाहे उस के टुकडे टुकडे क्यों न कर डालें ? उसी तरह ईश्वरानुभूति की धारणा जन्म जात है। अतः इसका हृदय से पूर्ण निष्कासन संभव नहीं है क्योंकि इसी के माध्यम से आनन्दानुभूति प्राप्त होती है। "[27] ईश्वरानुभूति के अत्यन्त सरल मार्ग का उल्लेख करते हुए नामदेव जी का कथन है कि ईश्वरानुभूति की धारणा में अपने को सदैव जागृत रखो। तुम्हारे सभी पाप ईश्वर के नाम स्मरण मात्र से तुम से अलग हो जायेंगे और तुम्हें स्वर्गलोक में निश्चित स्थान प्राप्त होगा।[28]

नामदेव ने ईश्वर को दयालु, कर्तव्यनिष्ठ एवं भक्त प्रेमी के रूप में देखा। उनके ही शब्दों में, " ईश्वर स्वयं नामदेव के पास उसी रूप में आता है जैसे कि गाय अपने बछडे के पास आती है।"[29]

26– अभंग–नामदेव–72 27– अभंग–135
28– अभंग–143 29– अभंग–149

नामदेव सगुण ब्रह्म के उपासक थे किन्तु निर्गुण ब्रह्म को भी प्रकारान्तर से मान्यता देते थे एवं उसकी भी उपासना उसी रूप में करते थे। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापक है। संसार का ऐसा कोई भी स्थल नहीं है जो ईश्वर से रिक्त हो। वह ईश्वर यद्यपि भक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न नामों से जाना जाता है फिर भी मूलतः वह एक ही है। नामदेव ने स्वयं अपने उपास्य के लिए मूलत: वह एक ही शब्दो का प्रयोग किया है। नामदेव ने स्वयं राम शब्द का प्रयोग किया है। उनका कथन है कि जैसे भंवरा पुष्प के चारों ओर मँडराया करता है उसी प्रकार मेरा जीव कोकिल की भाँति प्रिय को 'रामईया' शब्द के माध्यम से सदैव रटता रहता है। मछली को जैसे जलप्रिय है उसी प्रकार राम मेरे लिए प्रिय हैं।" नामदेव ने भी कबीर की भाँति परमात्मा को आत्मा का स्वामी एवं रक्षक माना है। –

" मैं बऊरी मेरा राम भतारू "[30]

माया के स्वरूप वर्णन में अन्य सन्तों की भाँति नामदेव भी इसे कनक कामिनी की उपाधि देते हैं। " देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए " तुलसीदास की इस पंक्ति में नामदेव की ही भावना बोलती है। संसार को ये ब्रह्म की लीला मात्र समझते हैं। ब्रह्म और प्रापंचिक संसार में एकता स्थापित करते हुए वे इसे जल एवं तरंग की उपमा देते हैं।

जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल तें भिन्न न होई।
इहु परपंच परब्रह्म की लीला विचरत आन न होई ॥[31]

ईश्वरानुभूति के संदर्भ में उपरोक्त अज्ञान से मुक्ति परमावश्यक है। ईश्वरानुभव को अत्यन्त सरल एवं नैसर्गिक बतलाते हुए उनका कथन है, " ईश्वर का स्वरूप एक अन्धे व्यक्ति के द्वारा भी देखा जा सकता है और एक गूँगा व्यक्ति भी एक बहरे व्यक्ति के कानों तक ईश्वर के

30– सन्त काव्य– परशुराम चतुर्वेदी पृ. 128
31– वही " " " पृ. 128

ज्ञान को पहुँचा सकता है । "[32] अनाहत नाद के सम्बन्ध में नामदेव का कहना है कि यह सहस्त्रों स्वर में ईश्वरनाम की धारणा प्रकट करता है । ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरूप का उल्लेख करते हुए नामदेव उसे एक ऐसा प्रकाश मानते हैं जिसे देखने के लिए किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है । वह स्वयं प्रकाशमान है । उसे देखने के लिए आत्मप्रकाश अर्थात् आत्मज्ञान ही पर्याप्त है । उनके शब्दों में, " केवल उसी में आत्म-जागृति हो सकती है जो अपने गुरु के उपदेशों में सच्ची आस्था रखता है । हम अपनी आत्मा को देखने के लिए कौन सा दीपक जलाते हैं ? वह जो सूर्य एवं चन्द्रमा को प्रकाश देता है, किसी अन्य दीपक के द्वारा नहीं देखा जा सकता । यहाँ पर न तो पूर्व है और न पश्चिम, न उत्तर और दक्षिण ------ ईश्वरानुभूति के लिए उद्यत साधक के लिए ईश्वर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है । "[33]

अन्त में नामदेव अपनी आत्मानुभूति के संदर्भ में अपने तादात्म्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि " उन्हें ईश्वरानुभूति ने इतना आच्छादित कर लिया कि उन्हें मालूम पड़ने लगा कि वे स्वयं ईश्वर ही थे और वह ईश्वर केवल उनका ही था ।"[34] नामदेव की इसी रहस्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर रानडे ने अपने साधनामार्ग को उसी के समानान्तर करने का प्रयास किया और उस परम्परा को आगे बढ़ाया जिसे नाथ सम्प्रदाय ने स्थापित किया था । रानडे नामदेव के रहस्यवादी उपदेशों का उल्लेख करते हुए कहते हैं- " महाराष्ट्र के सभी सन्तों में हम ईश्वर के नाम की सामर्थ्य एवं महत्ता पर शाश्वत् प्रेरणा पाते हैं और इन सभी सन्तों में हम नामदेव के नामस्मरण की प्रेरणा को सर्वोत्कृष्ट कह सकते हैं । "[35]

एकनाथ :- एकनाथ का जन्म सं. 1590 वि. (1533 ई.) के आसपास हुआ था । मूलनक्षत्र में जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता जन्मते ही मर गये । इनके प्रपितामह भानुदास अपने समय के एक

32- अभंग, नामदेव- 182. 33- अभंग- 48. 34- अभंग, 150.
35- मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. 194

बडे भारी वैष्णव संत थे । इन्होंने विठ्ठल जी की मूर्ति का पुनरुद्धार कर वारकरी भक्तों के साथ बहुत भारी उपकार किया था । ये देवगढ के निवासी जनार्दन स्वामी को अपवा गुरु बनाने के लिए सं. 1602 में वहां प हुंचे। जनार्दन स्वामी उस समय गुरु दत्तात्रेय के बडे भा ी उपासक थे और सिद्ध पुरुष माने जाते थे । इन्हीं के सम्पर्क में आकर एकनाथ ने गुरु मंत्र की दीक्षा ली और घोर तपस्या की । इनके प्रमुख ग्रन्थ नाथभागवत्, रुक्मिणी स्वयंवर, तथा भावार्थ रामायण हैं जिनमें अध्यात्म पक्ष में अद्वैत तथा भक्ति का मनोरम विवेचन बडी ही सुबोध भाषा तथा चित्ताकर्षक शैली में किया है । इस प्रकार भक्त आदर्श का जीवन विताकर सं. 1656 (1600ई.) में एकनाथ ने गोदावरी के तट पर अपना ौलिक शरीर छोड़ दिया ।

ज्ञानेश्वर और एकनाथ एक दूसरे से तीन शताब्दी द्वारा अलग किये जाते हैं फिर भी दोनों के विचारों में समरूपता है । एकनाथ उन साधु कवियों में से एक हैं जिन्होंने अपने पारिवारिक परम्परागत कर्तव्य को पूरा करके भविष्य में आनेवाले साधकों को कृतकृत्य किया। उन्होंने स्वयं ही कहा है कि वे जिस परिवार में उत्पन्न हुए थे वह वैष्णव धर्म का उपासक था । अपनी व्यक्तिगत उपासना के द्वारा उन्होंने ईश्वरानुभूति प्राप्त की । प्रो. रानडे के शब्दों में– " उत्कृष्टता एवं अभिमान की भावनाओं पर विजय पाकर उसने आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट विकास किया जिसमें उन्होंने एक अलौकिक दृश्य का दर्शन किया ।"[37]

एकनाथ की भी आध्यात्मिक गुरुके प्रति श्रद्धा उतनी ही तीव्र है जितनी ज्ञानेश्वर की निवृत्ति के प्रति। एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी थे जिनके आध्यात्मिक मार्गदर्शन में एकनाथ ने ईश्वर साक्षात्कार का आनन्दानुभव प्राप्त किया। एकनाथने स्पष्ट रूप से कहा- " सर्व प्रथम मनुष्य को अपने हृदय में गुरु का पवित्र स्थान वरण करना चाहिए

36- रानडे, मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र पृ. सं. 229
37- वहीं " " " पृ. सं. 229

फिर अपनी सम्पूर्ण अहंकार भावना को गुरु चरणों में परित्यक्त कर देना चाहिए तभी उसमें सद्भावनाओं का प्रकाश प्रकाशित हो सकता है।"[38] महात्मा एकनाथ गुरु के दर्शन से लौकिक जीवन में भी पारमार्थिक आनन्द का अनुभव करते थे। उनके मतानुसार गुरु ईश्वर का मार्ग दर्शक है। वह उस चरम उपलब्धि का आशिर्वाद देता है और साधना मार्ग पर आगे बढ़ने का संकेत व्यक्त करता है। गुरु माहात्म्य का उल्लेख करते हुए उनका कथन है– 'साधक अपने आध्यात्मिक गुरु को ईश्वर के रूप में समझता है।'[39]

एकनाथ अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की पवित्रता व्यक्त करते हु कहते हैं कि कुछ व्यक्ति जो अपने ज्ञान को अहंकार की भावना रूप में प्रयोग करते हैं वे आध्यात्मिक जीवन से च्युत हो जाते हैं। दूसरे व्यक्ति इसे सदा के लिए छोड़ देते हैं क्योंकि वे अपने उद्देश्य तक नहीं पहुँच सकते। एकनाथ इसे अज्ञान कहते हैं तथा इससे दूर रहने का संकेत देते हैं।

परब्रह्म के साक्षात्कार के संदर्भ में एकनाथ ने बताया कि इसके लिए घर बार छोड़कर जंगल में आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति जंगल में जाकर साधना करते हैं उनका जीवन किसी उलूक के जीवन से कम नहीं है जो कि अपने को सूर्य के प्रकाश से भी वंचित रखता है। पुनः उन्होंने बताया कि हमें एक तीर्थयात्री की तरह जीवन बिताना चाहिए जो प्रातः यात्रा के लिए चलता है और शाम को पुनः वापस आ जाता है। जिस प्रकार बच्चे खेल खेल में घर बनाकर बिगाड़ देते हैं उसी तरह का जीवन हमें भी खोजना चाहिए।[40]

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हुआ कि एकनाथ का मार्गदर्शन वास्तव में आत्मानुभूतिवादी दार्शनिक के लिए परमोत्कृष्ट है। इसीलिए रानडे ने कनाथ जैसे सन्तों के उपदेश को अपने रहस्यवाद का आधार माना

38– रानडे : मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र पृ. 229
39– अभंग, 9 40– अभंग, 30

तथा गृहस्थ जोवन में ही रहकर ईश्वर का परमलाभ प्राप्त करने का संकेत प्राप्त किया ।

तुकाराम :– संत तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र राज्य में पूना जिले में हुआ था । ये जाति से कुनबी थे । अन्य सन्तों के समान तुकाराम भी व्रत, उपवास, अरण्यवास आदि क्रियाकर्म का विरोध करते थे और ईश्वर प्राप्ति में हरि कीर्तन को प्राथमिकता देते थे । इन्होंने वेद आदि ग्रन्थों एवं संस्कृत भाषा का बहिष्कार किया था । नामदेव के समान तुकाराम भी विठोबा के उपासक थे और पठारपुर इनका केंद्र था । इनके जीवन काल में कितनी परेशानियां आयीं । इनका आध्यात्मिक जीवन कब से प्रारम्भ हुआ, आदि के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है, फिर भी इतना तो ज्ञात ही है कि तुकाराम के हृदय में हेगेल की द्वन्द्वात्मक विधि का पूर्ण समावेश था । अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में इन्होंने आत्मानुभूति का ही आश्रय लिया तथा इसी साधना से अपने साध्य तक पहुँचने का प्रयास किया ।

यद्यपि इनके आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ महात्मा बुद्ध की भाँति पाप से उत्पन्न घृणा की भावना से होता है फिर भी इनका जीवन नैराश्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता । तुकाराम अपनी आत्मा की अनन्त शक्ति में ही साक्षात्कार नित्य उपलब्ध मानते थे । फिर भी वे ईश्वर की असीम शक्ति के आगे विनम्र होकर कह उठते हैं, " मैं तेरे स्वरूप को कैसे जान पाऊँगा ? विद्वानों का दावा है कि तेरे स्वरूप की कोई सीमा नहीं है । "[41]

तुकाराम का विश्वास था कि ईश्वरीय अनुकम्पा से उनके अज्ञान रूपी बादल सदा के लिए दूर हट जायेंगे फिर परब्रह्म का दर्शन प्रत्यक्ष रूप में कर सकेंगे । तुकाराम की शिक्षा एवं जीवन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पूर्ण आप्तकामी थे । सांसारिक मायामोह का उन्होंने सर्वथा परित्याग कर दिया था। अपने जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करते

41– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. 287

हुए उन्होंने कहा, " मुझे बेघर, अर्थहीन और पुत्रहीन ही रहने दीजिए ताकि मैं आपकी याद कर सकूँ। मुझे कोई भी संतान मत दीजिए क्योंकि उसका स्नेह आपको मुझसे अलग कर देगा। मुझे धन देकर सौभाग्यशाली भी न बनाये क्योंकि यह और बड़ा दुर्भाग्य है। मुझे एक घुमक्कड़ ही बना रहने दीजिए क्योंकि इस मार्ग द्वारा मैं आपको रात दिन याद करने में पूर्णतः सफल सिद्ध हो जाऊँगा।"[42]

तुकाराम ने भक्त और भावना के एकाकार स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया कि जैसे कछुवा पैर अपने भीतर ही छुपा लेता है उसी तरह मैं भी अपने को ईश्वर में छुपाकर तद्रूप हो जाऊँ। उनका कथन इस प्रकार है, " अपनी भक्तिभावना से मैं तुम्हारे रहस्य को जानने में पूर्ण सफल हो गया हूँ। मैंने आप के स्वरूप को अपने अन्दर प्रवृष्ट कर लिया है जैसे कि कछुआ अपना पैर छिपा लेता है। मैं तुम्हारे स्वरूप को कभी अपने अन्दर से नष्ट नहीं होने दूँगा।"[43]

तुकाराम का विश्वास था कि ईश्वर की कृपा ही साधक को परमार्थ की ओर खींचती है। तुकाराम जब ईश्वर का दर्शन कर चुके तो उनके चरणों में नतमस्तक हो कह उठे, " मैंने ईश्वर का दिव्य रूप देखा और उस प्रतिच्छाया से हमें अनन्त पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई। मेरा मन इससे पवित्र हो गया। मेरे हाथ उनके चरण छूने के लिए व्याकुल हो गये। जैसे ही मैंने उनकी ओर देखा मेरी सम्पूर्ण बौद्धिक शक्ति नष्ट हो गयी। आनन्द ही अब हमें उच्चतर आनन्द की ओर अग्रसित कर रहा है।"[44]

ईश्वरानुभूति प्राप्त करने का सर्वसुलभ एवं पवित्र साधन है साधुजनों की संगति। तुकाराम ऐसे सन्त की प्रायः खोज किया करते थे जो वास्तव रूप में ईश्वरानुरागी था जिसे पूर्ण साक्षात्कार का पूर्वानुभव भी था। उनके ही शब्दों में, " मुझे अपने ही तरह के लोगों से मिलने दे ताकि मैं पूर्णरूपेण सन्तुष्ट रह सकूँ।"

42–अभंग, 2048. 43–अभंग–182. 44–अभंग–1329

मेरा मन उन लोगों से मिलने की तीव्र इच्छा रखता है जो ईश्वर से प्रेम करते हैं। मेरी आंखें उन्हें देखने के लिए टकटकी लगाये रहती हैं। मेरा जीवन तभी सार्थक होगा जब मैं उन सन्तों को गले लगा लूँगा। उसी दिन मैं ईश्वर का मनोनुकूल गुणगान करूँगा।''[45] साधुजनों की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए तुकाराम ने कहा– '' साधुओं के प्रति अपनी कृतज्ञता का वर्णन मैं किस प्रकार कर सकता हूँ? उन्होंने हमें सदैव जाग्रत रखा है। मैं उनकी इस दयालुता का प्रतिफल उन्हें कैसे दे सकता हूँ? यदि मैं अपने जीवन को उनके चरणों में अर्पित कर दूँ तो यही पर्याप्त होगा। उन्होंने भूलबस भी जो कुछ बतला दिया वह आध्यात्मिक ज्ञानार्जन में लाभकारी रहा। अब यही इच्छा शेष है कि वे मेरे पास आयें और प्यार करें ठीक उसी प्रकार जैसे गाय अपने बछड़े को करती है।''[46]

ईश्वरानुभूति में बाधक केवल पापकर्म ही हो सकते हैं। ऐसी मान्यता देते हुए महात्मा तुकाराम ने स्पष्ट शब्दों में कहा, '' मैं तुम्हारे पास एक बच्चे की तरह आया हूँ। मैंने आवश्यकतानुसार आपका अनुसरण किया है लेकिन मेरे सभी प्रयास बीचमें ही समाप्त हो गये। ऐसा मालूम पड़ता कि हमारे पापकर्म शक्तिशाली हो चुके हैं और आपके चरणों में समर्पित करने में बाधक सिद्ध हो रहे हैं।''[47] पुनः उन्होंने कहा, '' जब मैं अपने को तुम्हारे चरणों में अर्पित करने का प्रयास करता हूँ तो मेरे नये पाप मुझपर आक्रमण कर देते हैं। हे ईश्वर आप दयालु हों।''[48] तुकाराम ने यह संकेत दिया कि अपने को ईश्वर-तुल्य बताना मूर्खता है। वे ईश्वर से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के पक्षमें हैं किन्तु पूर्णतः ईश्वर हो जाने की बात हास्यास्पद बताते हैं।

जब तुकाराम अपने साक्षात्कार अथवा मोक्ष के कारण को जानने के लिए पीछे मुड़कर देखते हैं तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसका सर्वप्रथम कारण तो साधु संतों की महती कृपा ही है जिसके द्वारा उन्हें

45–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. सं. 286
46–अभंग : 2187-तुकाराम 47– अभंग : 2835 तुकाराम
48–अभंग : 2759–तुकाराम

ईश्वर के नाम का स्मरण हुआ था। तुकाराम ने ईश्वर भक्ति को आध्यात्मिक अनुभूति के लिए बहुत ही आवश्यक बताया। यदि हम तुकाराम के रहस्यवादी जीवन तथा उनकी शिक्षा की ओर ध्यान दें तो हमें आत्मानुभूति का एक सफल प्रयास दृष्टिगत होता है। उन्होंने समस्त संदेहों को दूरकर ईश्वरानुभूति का मार्ग प्रशस्त किया। उनका कथन है, "जो व्यक्ति संसार की भौतिक वस्तुओं एवं परमार्थ दोनों को एक साथ प्राप्त करना चाहता है, वह कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता।"[49]

रानडे तुकाराम की धार्मिक अनुभूतियों से बहुत अधिक प्रभावित थे। उनकी उपासना पद्धति एवं ईश्वर से एकाकार की भावना का स्वागत करते हुए रानडे भी उच्चकोटि के साधक थे। तभी तो उन्होंने कहा कि " तुकाराम में आदि से अन्त तक एक ही प्रक्रिया का सतत् दर्शन होता है।"[50]

रामदास:– रामदास जी का जन्म चैत्रमास नवमी सन् 1608 ई. को हुआ था। जब वे बारह वर्ष के थे तभी घरबार छोडकर नासिक के पास तकाली में रहने लगे। शिवाजी जैसे महा प्रतापी राजा इन्हें अपना गुरु मानते थे। शिवाजी इनकी आध्यात्मिक साधना से इतने प्रभावित थे कि वे समस्त राजपाट इनके चरणों में अर्पित कर स्वयं सेवक के रूप में कार्य करते थे। दासबोध इनकी प्रमुख रचना है। इसमें इनकी आध्यात्मिक शिक्षाओं का संग्रह है। इन्होंने आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश के पूर्व जगत् के परिप्रेक्ष्य में अपने को पूर्णरूपेण जान लेना आवश्यक समझा। आत्मज्ञान द्वारा उन्होंने क्रमशः ईश्वर की उपासना को दृढ़तर बनाया और विविध अनुभव सोपानों पर चढ़कर ईश्वर का साक्षात्कार किया। उनका कथन है' "मेरी उपासना ही है जो तर्क से भी अधिक प्रभावपूर्ण है और इस भौतिक संसार से परे ईश्वर की प्राप्ति में सहायक है।"[51]

49– अभंग : 3144

50– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. सं. 180

51– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र: रानडे पृ सं. 376

रामदास ईश्वर के सगुण उपासक थे। भगवान राम के प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "रघुनाथ वास्तव में मेरे पारिवारिक उपास्य देव हैं। वे व्यक्ति महान हैं जो विषम परिस्थितियों में ईश्वरानुभूति द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं।"[52] रामदास एक साधारण व्यक्ति और ईश्वरानुभूति प्राप्त व्यक्ति में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि ईश्वरानुभूति प्राप्त व्यक्ति को समाज के लिए नैतिक मापदंड और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का निर्धारण करना चाहिए। रामदास कहते हैं कि जिस व्यक्ति का मन चंचल है उसे दासबोध का अध्ययन नहीं छोड़ना चाहिए। इसके स्थिर और नियमित अध्ययन से गुह्य अर्थ स्वयं प्रकट हो जाते हैं और आध्यात्मिक जीवन की जड़ आत्मा में गहराई तक पहुँच जाती है।

रामदास द्वारा प्रतिपादित तत्वशास्त्र परक विवेचन में सर्वप्रथम ज्ञान के पारिभाषिक कथन का दर्शन होता है। उनके अनुसार विज्ञान का सम्यक् अध्ययन ही ज्ञान नहीं है। वास्तविक ज्ञान के संदर्भ में उनका कथन है– "किसी दूसरे के मन में किस प्रकार की प्रतिक्रिया हो रही है, को जानना ही ज्ञान है।" इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "वास्तविक ज्ञान आत्मज्ञान है। यह आत्मा के द्वारा आत्मा को जानना है। दूसरे शब्दों में वास्तविक ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। यह ज्ञान सत्य और असत्य के भेद को दूर करता है। ज्ञान मन के परे, समझ के परे एवं समस्त विवादों से परे है। यह परात्पर है और वाणी की उच्चतर शक्ति के भी परे है।"[53]

रामदास की भक्ति भावना बहुत प्रबल थी। इनकी भक्ति का स्वरूप सगुणात्मक था। वे ईश्वर के साक्षात्कार के लिए आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं कि हमें ईश्वर के नाम की सतत् साधना द्वारा तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए। वास्तव में यह एक रहस्यपूर्ण प्रयास है और यह सुयोग्य आध्यात्मिक गुरु द्वारा प्राप्त

52– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. सं. 376
53– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे, पृ. 376

किया जा सकता है। एक आध्यात्मिक गुरु की महत्ता उन्होंने ईश्वर से भी अधिक समझी। जिस सन्देहास्पद स्थिति में गुरु नानक ने 'गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागूँ पाँय' कहा था उसी स्थिति में रामदास जी का कथन है कि वह व्यक्ति जो ईश्वर कों गुरु से बड़ा मानता है, मूर्ख है। उसका मन केवल शक्ति और वैभव तक ही सीमित है। गुरु की महानता के आगे ईश्वर की महानता नगण्य है। गुरु आध्यात्मिक निधि की कुंजी अपने भक्त को दे देता है।[54] रामदास के शब्दों में जो मन के द्वारा नहीं प्राप्त हो पाता, उसे गुरु की शक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अन्ततः उन्होंने गुरु को ईश्वर से बड़ा कहकर उपर्युक्त सन्देह को सर्वथा दूर कर दिया।[55]

रहस्यानुभूति की व्याख्या करते हुए रामदास का कथन है कि "आध्यात्मिक जिज्ञासु की वास्तविक निधि छिपी हुई होती है। सेवक निधि का मूल्यांकन नहीं कर पाते। वे केवल बाह्य आभास ही पाते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति इसी प्रकार की निधि है ---इसी तरह ईश्वर जो साधारण लोगों की दृष्टि में विद्यमान है, सत्संग द्वारा स्पष्ट देखा जा सकता है।"[56] रामदास रहस्यवादी की स्थिति को विरोधपूर्ण भी मानते हैं। जैसे ही हम इसके प्रति सजग होते हैं वैसे ही हम उसे भूल जाते हैं और जैसे ही हम इसे भुलाने लगते हैं वैसे ही वह हमारी चेतना में अवतरित हो जाता है। अन्ततः रामदास यही कहते हैं कि "इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान वही कर पाता है जो आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर चुका होता है।"[57] संत रामदास के अनुसार ईश्वर साधक की साधना के अनुरूप ही उसे प्रतिफल देता है।[58]

54– दासबोध 2, 1
55– दासबोध 2, 1
56– वहीं 9, 1–20 1
57– वहीं 7, 19–23
58– वहीं 10, 13; 19

कतिपय स्थानोंपर रानडे ने रामदास के दासबोध में रहस्यात्मक विचारों में विरोध देखा है। शायद यह विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया था। भगवद्गीता के संदर्भ में रहस्यवाद का अनुमोदन करते हुए रामदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, " वह जिसे शास्त्रों से पराजित नहीं किया जा सकता, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, जो जल के द्वारा आर्द्र नहीं किया जा सकता, जो वायुके द्वारा उड़ाया नहीं जा सकता, जो न तो नीचे ही गिराया जा सकता है और न धारण ही किया जा सकता है फिर भी वह सर्वत्र और हमेशा विद्यमान रहता है। यह सत्ता केवल उपासना से ही अनुभव गम्य है।"[59]

ब्रह्म के स्वरूप वर्णन में रामदास का विचार है कि ब्रह्म आकाश से भी ज्यादा विस्तृत है। यह उतना ही छोटा है जितना बड़ा है। वह हमारे समीप है किन्तु छिपा हुआ है। केवल आध्यात्मिक पुरुष जो ईश्वरानुभूति प्राप्त कर चुके हैं इस ज्ञान को प्राप्त कर पाते हैं—[60] ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् प्रश्न उठता है कि रामदास ने ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया? इसके लिए रामदास ने साधना का आश्रय लिया। यदि साधक साक्षात्कार की साधना कर चुका है तब भी उसके लिए साधना उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना इसके पूर्व थी। दूसरे ईश्वर के साक्षात्कार के बाद साधक की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रहती। रामदास के शब्दों में, " यदि मनुष्य ने साधना के आदर्श स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति कर ली है तब साधना उसके लिए और क्या कर सकती है? यदि सन्त एक बार ईश्वर से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर चुका है तब उसकी आवश्यकता कम हो जाती है।"[61]

सन्त रामदास ने अपने को इन्हीं मार्गोंद्वारा ईश्वर के सन्निकट लाने का प्रयास किया था। उन्हें स्वयं भी एहसास हुआ कि वे इस उद्देश्य तक पहुँच चुके थे। दासबोध के अनेक स्थलों पर रामदासने

59– दासबोध 2, 15, 27
60– वहीं 1
61– वहीं 10, 17, 27

रहस्यात्मक अनुभवों का जो उल्लेख किया है वे उनकी स्वयं की अनुभूतियों से सम्बन्धित हैं। उन्होंने रहस्यात्मक मार्ग को एक प्रामाणिक मार्ग के रूप में अन्य मार्गों का गूढ़ एवं आन्तरिक रहस्य बताया। अन्ततः रामदासने रहस्यानुभूति का चरम लक्ष्य उपस्थित करते हुए कहा, "आध्यात्मिक अनुभव हमें केवल अपनी सामर्थ्य के अनुसार सम्पूर्ण जीवन की साधना से प्राप्त हो सकता है और तब परमात्मा स्वयं अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देगा।"

साधना मार्ग के जागरूक पथिक एवं महान् रहस्यवादी रानडेने क्रमशः महाराष्ट्रीय, कर्नाटकीय तथा आर्यावर्तीय सन्तों के उपदेशों तथा तथ्यों की जो मीमांसा प्रस्तुत की, वह केवल उनके दार्शनिक पाण्डित्य का ही नहीं, प्रत्युत साधनाभूमि पर उनके उत्थान का पर्याप्त सूचक भी है। सन्त वाणी में ईश्वरीय आदर्शोंकी ध्वनि सुनकर इन्होंने जिस आत्मानुभूतिपरक प्रकाश को प्रज्ज्वलित किया उस प्रज्ज्वलिताग्नि में महाराष्ट्रीय एवं कर्नाटकीय सन्तों का योगदान अग्नि में घृत के समान लाभप्रद सिद्ध हुआ।

वस्तुतः महाराष्ट्रीय सन्तोंके उपदेश नैतिक और आध्यात्मिक हैं किन्तु वे मनोवैज्ञानिक व तात्विक विश्लेषण से शून्य नहीं हैं। कन्नड़ सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियोंने ईश्वर के साक्षात्कार का सर्व सुलभ मार्ग प्रशस्त कर उस दिव्य ज्योति से तादात्म्य स्थापित कर दिया जिसे उपनिषदों ने 'नेति नेति' कहकर क्षुरे की धार के समान दुस्तर कहा था। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर आराधन रूपी अग्नि में अहं की आहुति देकर अपनी अद्वैतानुभूति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करने में सफल सिद्ध हुए।

रानडे ने उपर्युक्त महाराष्ट्रीय रहस्यवाद का गहन अध्ययन किया। इसके प्रमुख सन्तों के उपदेशोंपर मनन किया तदुपरान्त महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के सन्दर्भ में उनके विशिष्ट योगदान का उल्लेख किया। मुख्यतः रानडे का दो राज्यों से सम्बन्ध रहा वे थे कर्नाटक और महाराष्ट्र।

जिस समय रानडे कर्नाटक की पावन-भूमि पर अवतीर्ण हुए उस समय का आध्यात्मिक वातावरण पूर्णतयः निम्बर्गी के महान् सन्त भाऊ साहब से प्रभावित था। इन्ही की आध्यात्मिक संरक्षता में रानडे के जीवन का उत्तरोत्तर विकास प्रारम्भ हुआ। बाल्यकालोपरान्त जब इनका बौद्धिक विकास क्रमशः बढ़ने लगा तब इन्होंने महाराष्ट्र के सन्तों के रहस्यात्मक अनुभूतिपरक विचारों का अध्ययन प्रारम्भ किया। यह अध्ययन इन्हें पूर्णरूपेण रहस्यवादी बनाने में सक्षम सिद्ध हुआ।

महाराष्ट्रीय प्रभाव को रानडे ने दो रूपों में स्वीकार किया। प्रथम प्रभाव तो उनके आदि गुरु श्री निम्बार्गी महाराज भाऊ साहब का पड़ा जिनके धार्मिक मार्ग निर्देशन से इनके जीवन को एक नवीन दिशा मिली। दूसरा प्रभाव महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन का पड़ा जिनके आचरण एवं विचारों की स्पष्टता ने रानडे को दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी बना दिया। इस प्रकार कर्नाटक एवं महाराष्ट्र दोनों की सन्त परम्परा का समान प्रभाव पड़ा। प्रथम ने इनके जीवन को दिशा दी तो दूसरे ने आजीवन मार्ग निर्देशन किया। इतना तो सुस्पष्ट है कि रानडे के रहस्यवादी दर्शनरूपी महल की नींव कर्नाटक के सन्तों ने डाली जब कि उस महल का पूर्ण निर्माण महाराष्ट्रीय भक्ति प्रधान संतों के योगदान से हुआ।

रानडे के पूर्व महाराष्ट्रीय संत परंपरा भक्ति प्रधान थी। उन्हीं दिनों एक दल ऐसा निर्मित हुआ कि वह सभी प्रश्नों को राजकीय दृष्टि-कोण से ही देखता था। इस क्षेत्र में सन्तों के कार्य का यथार्थ दृष्टिकोण पहले श्री माधव गोविंद रानडेने लोगों के समक्ष उपस्थित किया। तत्पश्चात् रानडे ने अपनी अधिकार वाणी से यह सिद्ध कर दिखाया कि सन्त सामाजिक कार्य से नहीं पहचाने जाते बल्कि उन्हें आत्मानुभूति द्वारा पहचानना चाहिए। अतः रानडे ने महाराष्ट्रीय सन्त परम्परा से राजकीय प्रभाव को अलग रखने में विशेष योगदान दिया।

यद्यपि रानडे ने इस कार्य को पूर्व महाराष्ट्रीय सन्तों की आध्यात्मिक दीक्षा से ही सम्पन्न किया किन्तु उस में आत्मानुभूति की

स्वतन्त्र प्रक्रिया का स्पष्टीकरण उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन के द्वारा किया। रानडे सन्तों में किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकार करते। सभी के उपदेशों को उन्होंने अपने रहस्यानुभूति परक दर्शन में समाविष्ट किया। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है, "श्री भाऊसाहब महाराज निम्बर्गी किसी भी दशा में ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम से कम योग्य नहीं हैं। उनकी कृपा के माध्यम से ही मैंने आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त की जिसे नारद एवं भक्त प्रह्लाद ने बहुत पहले प्राप्त किया था।"[62]

रानडे ने महाराष्ट्र के सन्तों के रहस्यवाद तथा पश्चिमी रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम-स्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बडे से बडे रहस्यवादी विचारक प्रायः एक ही तरह सोचते हैं। ग्रीक तथा रोम, जर्मनी तथा फ्रांस एवं भारत में एक प्रकार के प्रत्ययों की ही अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ प्लाटिनस का कथन कि जिसमें आन्तरिक भेद न हो और जो किसी बाहरी वस्तु से भी भिन्न हो वही आदर्श सन्त है। ज्ञानेश्वर का मत है कि आदर्श सन्त का मन उसकी आत्मा से अभेद प्राप्त करता है और ईश्वर में अपने अस्तित्व का लय करके आनन्दलोक को प्राप्त करता है। और ईश्वर में अपनी सभी बाहरी वस्तुओं को त्याग देता है। इसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों, अतीन्द्रिय अनुभवों, धार्मिक जागरूकता और रहस्यवाद के बौद्धिक, नैतिक तथा प्रातिभ ज्ञानपर पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनों में पर्याप्त समानता है। इतना पूर्णरूपेण सत्य है कि महाराष्ट्रीय रहस्यवाद के सन्दर्भ में रहस्यवाद का जितना विकास हुआ उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

❖ ❖

62–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र : रानडे पृ. 385

पंचम् परिच्छेद

रहस्यवादः भारतीय विचारधारा का चरमोत्कर्ष,

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ऐन्द्रिक व प्रत्यक्ष ज्ञान को छोड़कर दो प्रकार के और ज्ञान सिद्धान्त की चर्चा हुई है। पहला बौद्धिक तर्क और दूसरा अन्तर्ज्ञानात्मक बोध। बौद्धिक तर्कजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करने पर प्राप्त होता है। यह प्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक होता है। अनुभव और विश्लेषण की क्रमशः वृद्धि के साथ इनकी व्याख्याओं में भी तदनुरूप परिवर्तन होता रहता है व्यावहारिक जीवन और परिस्थितियों पर इसी के द्वारा नियंत्रण रखा जाता है। भौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु हो, हमारी बुद्धि उसके बाहर ही बाहर रहती है वह हमें अपने अन्तर्तम तक नहीं ले जाती है।

दूसरी विधि अन्तर्ज्ञानात्मक विधि है जिसे रानडे, अरविन्द आदि रहस्यवादियों ने आत्मानुभूति अथवा रहस्यानुभूति कहा है। अन्तर्ज्ञान से प्राप्त अनुभव शब्द प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने में कठिनाई अवश्य होती है। इसका कारण यह है कि भाषा बुद्धि का उपकरण है। आत्मानुभूति की कोई भाषा नहीं होती है। रानडे ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "सभी युग और देशों के रहस्यवादी दार्शनिकों की एक ही भाषा बोली है क्योंकि वे एक ही आध्यात्मिक देश के निवासी हैं।" अन्तर्ज्ञान अथवा आत्मानुभूति की प्रवृत्ति बौद्धिक ज्ञान के विपरीत है। शब्द प्रतीकों द्वारा आत्मानुभूति की ओर व्यक्ति को उन्मुख किया जा सकता है किन्तु इसको प्रकट नहीं किया जा सकता।

वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत आत्मानुभूति की आवश्यकता पर जोर डालते हुए परमात्मा के ज्ञान अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान ही आत्मानुभूति है। इसी प्रणाली को रहस्यवाद की संज्ञा दी गयी। रहस्यवाद कोई सिद्धान्त नहीं है। यह जीवन की व्यावहारिक प्रणाली है। रानडे का कथन है, "किसी तत्वदार्शनिक सिद्धान्त की सच्चाई और प्रबलता का मानदण्ड यह है कि उसमें जीवन को कितना दिव्य और इस प्रकार कितना निर्वाह योग्य बनाने के लिए शक्ति है।"[2] इसे रहस्यानुभूति इसलिए कहा क्योंकि आत्मा जैसे गूढ़ विषय का ज्ञान आत्मा के द्वारा ही संभव है और वह आत्मा परमात्मा स्वरूप है। अतः इसमें रहस्योद्घाटन होता है। आत्मा का आध्यात्मिक ज्ञान बुद्धि की सीमा के बाहर है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता।

मनुष्य में जहाँ शारीरिक मानसिक स्तर की अनेकानेक विशिष्टतायें हैं वहीं उसकी वरिष्ठता इस आधार पर भी है कि उसमें अन्तरात्मा कहा जाने वाला तत्व पाया जाता है। इसमें उत्कृष्टता का समर्थन और निकृष्टता का विरोध करने की ऐसी क्षमता है जो अन्य किसी प्राणी में नहीं पायी जाती। रहस्यवादी प्रवृत्ति का मूल केंद्र अन्तरात्मा ही है। आत्मा के परिशोधन से परमात्मा का साक्षात्कार इसकी प्रमुख विशेषता है। बुद्धि एवं तार्किक विचार सांसारिक कार्योंको समझने के साधन हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा, परमात्मा अथवा अन्य दार्शनिक समस्याओं का समाधान बुद्धि के परे है। रहस्य-वाद ही इसका हल प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत आत्मा को अनन्त शक्ति के माध्यम से उसी में परमात्मा का साक्षात् अन्तर्दर्शन होता है। इसीलिए रानडे ने इसे ईश्वरानुभूति नाम से भी अभिहित किया। इस अन्तर्दर्शन की साधनभूत आत्मानुभूति प्रकिया को जानने के लिए रहस्यानुभूति के संदर्भ में कतिपय विद्वानों का मत प्रेक्षणीय है।

2- उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण अनु. रामानंदति. पृ 415

प्रो· ब्राइटमैन ने रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए कहा है, " रहस्यवाद का अर्थ दैवी सत्ता से साक्षात्कार होना है । "[3]

प्रो· केयर्ड ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है, " रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें सभी प्रकार का सम्बन्ध आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध में विलीन हो जाता है । "[4] हॉकिंग ने रहस्यवाद को आराधना और आराधना को रहस्यवाद का पर्याय माना ।[5]

अन्डरहिल ने रहस्यवाद को परिभाषित करते हुए कहा है' " रहस्यवाद एक सम्बन्धित प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा मानव ईश्वर के प्रति प्रेम पूर्ण समग्रता में प्रवेश करता है । यह एक कला है । जिसके द्वारा मनुष्य निरपेक्ष के साथ चेतन सम्बन्ध स्थापित करता है ।"[6]

भारतीय दार्शनिकों ने भी रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचारपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

डा· राधाकृष्णन ने रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि रहस्यवाद एक अनुशासन है जिसके द्वारा आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति होती है ।

रानडे ने रहस्यवाद को दैवीरूप माना । यह दैवीतत्व ही इसे अधिक प्रभावोत्पादक और प्रामाणिक बनाता है । उनके अनुसार रहस्यवाद का तात्पर्य प्रातिभ ज्ञान के द्वारा उपलब्ध अपरोक्षानुभूति है । उनकी दृष्टि में तर्कसाध्य परोक्षानुभूति तथा प्रातिभजन्य अपरोक्षानुभूति में वही अन्तर है जो किसी अनुभव के विवरण तथा उस अनुभव के उपयोग में है अथवा जो ज्ञान तथा सत्ता के बीच में विद्यमान है ।[7]

3– ब्राइट मैन– ए फिलासफी आफ् रिलीजन, पृ·45

4– केयर्ड– इवोल्यूशन आफ् थियोलाजी इन् ग्रीक फिलासफी, पृ. 210

5– हॉकिंग– मीनिंग आफ गाड इन् ह्यूमन एक्सपीरियंस, पृ. 134

6– ई. अन्डरहिल– मिस्टिक वे, पृ. 81

7–उपनिषदों का रचनामत्क सर्वे अनु. रामानंद, पृ· 326

तर्क के द्वारा उपलब्ध ज्ञान परोक्ष अथवा परानुभूति है और इस ज्ञान को अपनी अनुभूति में बिना जाने वह कथमपि उपादेय नहीं हो सकता। ज्योति स्वरूप ब्रह्म की सत्ता का सबसे सबल प्रमाण है – स्वानुभूति, अपना वैयक्तिक अनुभव। इसीलिए भर्तृहरि ने इस तत्व का एतिपादन " स्वानुभूत्येकमानाय " कहकर किया है।

रहस्यवाद की प्रथम विशेषता है कि इसके द्वारा हमें तत्व की प्रकरूपता का ज्ञान होता है। यह रहस्यवाद की महत्वपूर्ण और भावात्मक घोषणा हैं। हम एक ऐसे विश्व के निवासी हैं जिसमें व्यवस्था का साम्राज्य है। संसार की प्रत्येक वस्तु सामन्जस्य एवं व्यवस्था की द्योतक है। रहस्यवाद इसके स्वरूप को शब्दों के माध्यम से प्रकट नहीं कर पाता। यह इसकी दूसरी विशेषता है। यह उपनिषदों की " नेति नेति " पद्धति का ही अनुसरण करती है। जेम्स महोदय ने रहस्यवाद को अकथनीय कहा है। जिस प्रकार मीठे के स्वाद का वर्णन करने में मानव असमर्थता व्यक्त करता है उसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूति को भाषा में व्यक्त करना मानव की शक्ति के बाहर है। इसका केवल संकेत दिया जा सकता है। अकथनीय का यह तात्पर्य नहीं है कि यह मानवीय स्पष्टीकरण प्रक्रिया को दोषयुक्त बना देता है। प्रो. एटकीन्सन ली ने कहा है, " ऐसा सोचना कि स्पष्टीकरण में दोष के कारण ऐसा होता है, अत्यन्त ही स्वाभाविक है, परन्तु रहस्यवादियों का प्रमाण यह बतलाता है कि रहस्यात्मक अनुभूति के विषय अद्भुत होने के कारण ही वर्णन के बाहर है।"[४] चूँकि अनुभव का विषय विलक्षण तथा रहस्यात्मक होता है इसलिए भाषा की सीमा में बाँधना असम्भव हो जाता है।

रहस्यवाद की तीसरी विशेषता यह है कि यह आत्मा और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध को मानता है। उपासक और उपास्य के बीच सभी प्रकार के विरोधों का अन्त हो जाता है। जिस प्रकार

8- एटकिसन ली– ग्राउण्ड वर्क आफ् फिलासफी आफ् रिलीजन– पृ. 162

ूंद समुद्र में गिरकर उसमें विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार रहस्यवादी ारमात्मा में िलीन हो जाता है अर्थात् परमात्मरूप हो जाता है। ात्मा और अनात्मा का विरोध ऐसी अवस्था में पूर्णतः समाप्त हो जाता है तब रहस्यवादी चिल्ला उठता है —

' अहं ब्रह्मास्मि ' अर्थात् ' मैं ब्रह्म हूँ। '

रहस्यवाद की चौथी विशेषता यह है कि यह ईश्वर का ज्ञान आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त मानता है। अंग्रेजी भाषा का इन्ट्यूसन " जो कि इन्ट्यूटस " शब्द से बना है, का अर्थ होता है प्रत्यक्ष। यह एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है। इसके अन्तर्गत आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह साक्षात् ज्ञान है। किसी भी ज्ञान के लिए कर्ता और कर्म परमावश्यक तथ्य है। विषयी या कर्ता उसे कहते हैं जो ज्ञान प्राप्त करता है तथा विषय या कर्म उसे कहते हैं जिसके बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। तार्किक ज्ञान में मन और पदार्थ के बीच अभेद का सम्बन्ध होता है। मन पदार्थ हो जाता है और पदार्थ मन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मानुभूति भी तादात्म्यजन्य ज्ञान है। यह ज्ञान सन्देह-रहित निश्चित एवं सत्य होता है। इसको प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। डा॰ राधाकृष्णन् ने इसे ' प्रामाण्यं निरपेक्षम् '[9] कहा है। आत्मानुभूति तर्क का विरोध नहीं करती वरन् तर्क से सामंजस्य रखने की कोशिश करती है। डा॰ राधाकृष्णन् के शब्दों में, ' आत्मानुभूति अतार्किक नहीं बल्कि तर्क से परे है। '[10]

रहस्यवाद की पांचवीं विशेषता यह है कि प्रत्येक रहस्यवादी कलात्मक प्रवृत्ति का प्रयोग करता है। ईश्वर का ज्ञान रहस्यवाद में कला के माध्यम से संभव होता है। ईश्वर का कलात्मक प्रतिरूप रहस्यवाद का प्रधान अंग है। रहस्यवाद और कला में समानता है। दोनों संवेगात्मक प्रेम को अभिव्यक्ति हैं। दोनों में विरोध भी है।

9- राधाकृष्णन्- एन आइडियलिस्टिक वे आफ् लाइफ, पृ. 145

10- वहीं-एन आइडियलिस्टिक वे आफ् लाइफ, पृ. 247

कलाकार विवेक और बुद्धि का सहारा लेता है परन्तु रहस्यवादी के लिए तर्क व बुद्धि अनावश्यक प्रतीत होती है। यह भावना का आश्रय लेता है। रहस्यवादी का उद्देश्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है परन्तु कलाकार का उद्देश्य किसी वस्तु का निर्माण करना है। रहस्यवाद की छठी विशेषता यह है कि रहस्यवादी को अपनी समाधि में आनन्द ही मिलता है। उसके अनुभव के आधार पर आनन्द ही परमतत्व है। " उपनिषदों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार का अनिवार्य सम्बन्ध आनन्द लाभ से है। इस आनन्द को सुख और राग की मात्रा से नहीं नापा जा सकता। यह अपने प्रकार का विलक्षण अनुभव है।"[11]

प्रो. रानडे ने इस आनन्दतत्व की विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है, " आनन्द साधक के पास स्वयं आता है। यह अपने प्रभाव में इतना शक्तिशाली है कि इसको सुनने से ही सांसारिक सत्ता लुप्त हो जाती है और नित्यता हमारे पास स्वयमेव आती है।"[12] अन्यत्र भी कहा गया है कि सच्चा आनन्द केवल आत्मदर्शन में ही मिलता है। अतः रहस्यानुभूति द्वारा परमानन्द की उपलब्धि सहज ही हो जाती है।

रहस्यवाद की सातवी विशेषता है जिसे प्रो. रानडे ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, " रहस्यवाद औपनिषद् दर्शन की परिपूर्णता है, यही सभी दर्शनों की परिपूर्णता है।"[13]

रहस्यवाद दिव्य सत् तत्व अथवा संसार की वस्तुओं के चरम सत्य को ग्रहण करने का मानव मन का प्रयत्न है। इसमें प्रथम अंश तो रहस्यवाद का है जो दार्शनिक पक्ष है तथा दूसरा उसका व्यावहारिक पक्ष। प्रथम प्रयत्न सैद्धान्तिक अथवा चिन्तनात्मक है तथा दूसरा व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक है। श्री अरविन्दकी भाँति ही रानडे ने

11- राधाकृष्णन्- कन्टेम्पोररी इंडियन फिलासफी, पृ. 556

12- रानडे- मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र पृ. 121

13- रानडे- ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे. आफ् उपनिषदिक फिलासफी, पृ. सं. 65

भी बुद्धिवाद के एकांगी सिद्धान्त से खिन्न होकर समग्र जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया जिसमें उन्होंने आत्मानुभूति के विभिन्न तथ्यों का वर्णन तथा परमात्मा की उपलब्धि का अन्तर्ज्ञानात्मक सिद्धान्त द्वारा समर्थन किया है। उन्होंने मनुष्य को शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक माँगों की समग्रता बताते हुए कहा कि रहस्यानुभूति किसी तत्व का आन्तरिक स्वरूप प्रकट करती है। "रहस्यवादी का सर्वाधिक संघन भाव यह रहता है कि वस्तुएँ एक ही रहती हैं।"[14] अतः रहस्यवाद के चिन्तन प्रधान कथन सदैव प्रकृत्या विश्वदेववादी होते हैं। व्यावहारिक पक्ष से रहस्यवाद परमात्मा के साथ आत्मा के प्रत्यक्ष समागम की संभावना का पालन करता है।

रहस्यवाद शब्द सामान्यतया दो प्रकार के विचारोंको समाहित करता है।

1) परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष संयोग का स्वयं अनुभव।[15]

2) परमतत्व अथवा ईश्वर के साथ आत्मा के सम्भव एकात्म का तत्व वैज्ञानिक धर्मदर्शन सिद्धान्त।

इनमें से द्वितीय विचार के लिए रहस्यवाद को सीमित रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है। इस अवस्था में विषयी और विषय दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से मिश्रित रहते है। इन क्षणों में जो कुछ भी देखा, सुना अथवा अनुभव किया जाता है वह आन्तरिक जीवन के आवेगमय प्रवाह से भरपूर रहता है। अत्यधिक गंभीरता में छिपी रहने वाली व्यक्ति की शक्तियाँ जो सामान्यतया क्रियाशील नहीं रहतीं. अकस्मात मुक्त हो जाती हैं। ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिनमें विषयी और विषय दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से संपृक्त हो जाते हैं तथा जिनमें आत्मा जगत् से अभिन्न हो जाती है। दूसरी ओर रहस्यवाद परमात्मा से एकात्म का सिद्धान्त है। इससे उस रहस्यमय मार्ग का

14- बाथ और संत साहित्य- डा. नागेन्द्र नाथ उपा., पृ. 551

15- रानडे, मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र पृ.। (भूमिका)

ज्ञान होता है जिससे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के साथ एकात्म भाव प्राप्त किया जा सकता है। इस परमात्मा के स्वरूप की जो कल्पना की गयी है, उसमें वह निरपेक्ष तत्व, विशुद्ध सत्, पूर्णरूप, भूतत्वों के मिश्रणोंसे सर्वथा मुक्त, नित्य स्थिर अपरिवर्तनशील है। वह मन की परिवर्तनशील अवस्थाओं तथा संसार की ससीम परिवर्तनशील वस्तुओं में अनुपलब्ध है एवं वह देशकाल से मुक्त है।[16] इस आत्मा में भी कुछ ऐसे तत्व हैं जो उस पूर्ण ब्रह्म से तत्वतः अभिन्न है जिन्हें प्रायः चेतना का आधार, दिव्य स्फुलिंग, ईश्वरवाणी अन्तरोन्मुख दृष्टि या अंतर्दृष्टि आदि कहा जाता है। यही पूर्ण सत्य के वास्तविक ज्ञान का श्रोत है। जब आत्मा अपने इस गंभीरतम केंद्र में अवगाहन करती है तब वह उस सत्ता से एकात्म सम्बन्ध प्राप्त कर लेती है, श्रेय से अभिन्न हो जाती है।[17]

रहस्यवाद के अन्तर्गत आवश्यकतानुसार अभावात्मक पद्धति को भी स्वीकार किया गया है। अतः किसी प्रकार की सीमा अथवा विशेषण को उस पर आरोपित करना उसको सीमित करना है। उसकी पूर्णता और असीमता का पूरा अनुभव हम तभी कर सकते हैं जब उसके सभी विवरणों से सभी ससीमों को तिरस्कृत कर दें। वह यह नहीं है बल्कि इससे वह वह ही है, का ज्ञान प्राप्त होता है। रहस्यवाद की उत्कृष्टता को रानडे ने परमसत्ता के संदर्भ में आनन्दतत्व के रूप में देखा। उनका तर्क है, "यदि केवल ज्ञान परमतत्व हो सकता है तो केवल आनन्द क्यों नहीं हो सकता? क्या उपनिषदें अन्ततोगत्वा आनन्द को ही परमतत्व नहीं कहतीं? आनन्द ब्रह्म है। आनन्द से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।"[18]

16- रानडे, मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र, पृ. 84

17- रानडे, मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र, पृ. 84

18- तैत्तरीय उपनिषद्, 3, 6.

रानडे ने तो आनन्दवाद को भारत का सनातन दर्शन स्वीकार किया है। आनन्द सन्तों का मूलभूत सिद्धान्त है और आनन्दवाद ही रहस्यवाद व भक्तियोग है। रहस्यवादी को अपनी समाधि में आनन्द का ही अनुभव होता है क्योंकि उसके अनुभव का आधार ही परमतत्व है। अतः यदि रहस्यवादियों के अनुभव को प्रमाणित माना जाय, उनकी वाणी को ठीक से समझा जाय तथा उनकी मनोवैज्ञानिक मुद्रा का भली भाँति अवलोकन किया जाय तो निःसन्देह यह ज्ञात होगा कि उनके अनुसार आनन्द ही परमतत्व है। आनंद उनका गुण विशेष या भावना नहीं बल्कि स्वरूप है।

रहस्यवाद के सम्यक् परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह बौद्धिक एवं तार्किक प्रयास की अपेक्षा सत्य को प्राप्त करने का सरल एवं अन्तः प्रज्ञात्मक प्रयास है। यह सत्य के समक्ष उपस्थित होने की भावना का विस्तार है और इस उत्साहपूर्ण अन्वेषण में आत्मा की गहराई में विद्यमान विभिन्न सिद्धान्तों के साथ विरल रूप से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि अविरल होकर तदनुरूप हो जाती है। एम्. सरकार का इस संदर्भ में स्पष्ट कथन है, " रहस्यवाद जीवन का स्थायी दर्शन नहीं है। यह जीवन और चेतना की सर्वोच्चता है। यह पूर्ण विकास की प्रक्रिया है। इससे नवीन संभाषण अनन्त सामन्जस्य और नूतन आकर्षण की अनुभूति होती है।"[19]

अतः स्पष्ट है कि रहस्यवाद आत्मा परमात्मा के एकात्म का धर्म दार्शनिक एवं तत्वज्ञानात्मक सिद्धान्त है। यह प्रत्यक्ष संयोगानुभव की विशेष प्रक्रिया है। इस अवस्था में विषयी और विषय का समन्वय हो जाता है। रहस्यवादियों के अनुसार परमात्मा सर्वातीत है और आत्मा उसकी प्रकृति की अंशाधिकारिणी है। चूँकि अनुभूति की अवस्था सर्वातीत होती है इसलिए यह एकाकी का एकाकी की ओर अभ्युत्थान है। इसके अन्तर्गत आत्मा की नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि ही उपलब्धि का

19- हिंदू मिस्टीसिज्म, एम्. सरकार, पृ. 24

साधन है। रहस्यानुभूति हृदय का धर्म है। इसीलिए यह अपने मार्ग में विचारणा एकान्त व आध्यामिक आनन्द को ही उपयुक्त मानता है। रहस्यवादी का जीवन असफलता से नहीं प्रारम्भ होता बल्कि अन्तर्दृष्टि के उन्मेषबिन्दु से होता है। चूँकि साक्षात्कार की दृष्टि अनिर्वचनीय और मूक होती अतः यह स्वानुभूति द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकवाद और पौराणिक शैली का प्रयोग करता है। यही उसकी भाषा है।

महान् रहस्यवादी ज्ञान की अन्तिम सीढीपर पहुँचने के लिए आत्मानुभूति पर विश्वास रखते हुए भी सामान्यतः प्रखर तार्किक रहे हैं। प्रो. रानडे भी इस मत को मानते थे इसीलिए उनके रहस्यवाद को कतिपय दार्शनिकों अथवा लेखकों[20] ने बौद्धिक रहस्यवाद कहा है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रो. संगम लाल पाण्डेय जी का कथन है, " बौद्धिक रहस्यवाद का आन्दोलन विश्व के दर्शन में सन्त परम्परा को केन्द्रीय महत्व देना है। बौद्धिक रहस्यवाद बौद्धिक ज्ञान और श्रुत ज्ञान को समन्वय योग्य पाता है। वह जिस ज्ञानमीमांसा को प्रस्तावित करता है उसमें बुद्धि के विकास पर पर्याप्त बल है। वह बुद्धि के विनाश अथवा त्याग की शिक्षा नहीं है।[21]

केनोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस जीवन में यदि परब्रह्म को जान लिया, तब तो कुशल है, नहीं तो महान् विनाश है। बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक प्राणी में परब्रह्म को समझकर इस लोक से प्रयास करके अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं।[22] परन्तु मात्र बुद्धि ही पर्याप्त नहीं है इसके लिए उपनिषद् के इस कथन की आवश्यकता है जिसमें बताया गया है कि जिस मनुष्य ने बुरे आचरणों का त्याग नहीं किया, जिसका मन शान्त नहीं है जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, जिसने मन बुद्धि

20- भारतीय दर्शन का सर्वे. प्रो. संगमलाल पाण्डेय, पृ. 466
21- भारतीय दर्शन का सर्वे. प्रो संगमलाल पाण्डेय, पृ. 466
22- केनोपनिषद् 2/5

को वश में नहीं कर लिया है, उसको सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[२३]

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि रहस्यवादने बुद्धि के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसे पर्याप्त नहीं बताया बल्कि आत्मानुभूति को ही सर्वथा आत्मसाक्षात्कार प्राप्ति में उपयुक्त माना ।

रहस्यवाद अज्ञेयवाद से सर्वथा भिन्न है । " अज्ञेयवादी के विरुद्ध रहस्यावादी का विश्वास है कि सत् का गुण यद्यपि वर्णनीय नहीं हैं तथापि एक प्रकार के अव्यवहित ज्ञान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है जो संप्रत्ययों के परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक संतोषप्रद होता है । सत् के इस अव्यवहित अनुभव को रहस्यवादियों के द्वारा सत्ता की एक असाधारण अथवा विशिष्ट अवस्था मानी जाती है ।

रहस्यवाद धर्म का ऐसा रूप है जो अत्यधिक व्यापक एवं लोकप्रिय है । अनेकेश्वरवाद से लेकर अनीश्वरवाद तक की अभिव्यक्तियों में रहस्यवाद की छाया मिलती है । ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद की तो वह साक्षात् आत्मा ही है । रसेल, जो समकालीन दार्शनिकों में प्रमुख हैं, ने रहस्यवाद की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए कहा है कि विज्ञान और रहस्यवाद की महत्ता समान रूप से अपेक्षित है ।

रहस्यवाद धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन के लिए विशेष उपयोगी है । रानडे ने इसे इसी विशिष्टता के कारण उपयुक्त देखा । यह एक सार्वभौमिक दर्शन है । रानडे अपने को दार्शनिक कहने की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक पसंद करते थे । सन्तों का जीवन उन्हें बहुत प्रिय था । इसका कारण यह था कि रहस्यवाद में ईश्वर का साक्षात्कार आत्मानुभूति प्रक्रिया द्वारा सहज ही हो जाता है । रहस्यवाद द्वारा उन आध्यात्मिक मूल्यों की सहज प्राप्ति हो जाती है, जो साधक के लिए नितान्त आवश्यक है । रहस्यवाद के अभाव में धर्म के अन्तर्गत आडंबर-

---

23- दर्शन के प्रकार; विलियम अर्न्स्ट हॉकिंग, अनु. रमेशचन्द्र, पृ. 267

बाद एवं रूढ़िवाद का जन्म होता है । रहस्यवाद धार्मिक मान्यताओं को स्वानुभूति द्वारा प्रमाणित कर धर्म को जीवन एवं गति दोनों प्रदान करता है ।

रहस्यवाद के विरुद्ध कहा जाता है कि यह विश्व की प्रगति के प्रति उदासीन है और वह विश्व की व्याख्या करने में असमर्थ है । जगत् की व्याख्या न करने के कारण वैज्ञानिक दृष्टि से रहस्यवाद असंगत प्रतीत होता है । बुद्धिवादियों ने रहस्यवादियों की आलोचना करते हुए इसे भ्रम मात्र कहा । बुद्धिवादियों के अनुसार रहस्यवाद का सिद्धान्त रहस्यवादियों की अपने मष्तिष्क की उपज है । अतः रहस्यवाद अतार्किक एवं विरोध पूर्ण है । हेगल ने भी रहस्यवाद को दर्शन का निषेध बतलाते हुए कहा है कि यह बुद्धि का बहिष्कार करता है । रहस्यवाद के विरुद्ध तीसरा आक्षेप है कि यह मानवीय संवेगों पर आधारित है । इसमें भावनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि रहस्यात्मक अनुभूति आत्मनिष्ठ हो जाती है । अतः रहस्यवाद में वस्तुनिष्ठता का अभाव है ।

रहस्यवाद के विरुद्ध यह आक्षेप भी लगाया जाता है कि रहस्यवाद संशयवाद और अज्ञेयवाद की भूमिका तैयार करता है । रहस्यवाद में तथ्य की अकथनीयता के कारण संशयवाद तथा अवर्णनीयता के कारण अभावात्मक पद्धति को प्रश्रय दिया गया है ।

उपरोक्त सभी आक्षेपों का उत्तर रहस्यवादी दार्शनिकोंने सप्रमाण प्रस्तुत किया है । वे अपने रहस्यवाद को इतना प्रभावकारी मानते हैं कि विश्व की सम्पूर्ण दर्शनविधि को आत्मसात करने का दावा प्रस्तुत करते हैं । प्रो. रानडे ने इसीलिए भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन के समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया था । रानडे का विचार है कि यद्यपि रहस्यानुभूति का भावात्मक वर्णन संभव नहीं है तथापि निषेधात्मक वर्णन के लिए इसके अन्तर्गत स्थान है । उपनिषद्ने भी तो इसी 'नेति नेति' पद्धति का कथन किया है । अतः निषेधात्मक रूप से रहस्यवादी अनुभूतियों का प्रस्तुतीकरण इसे अभावात्मक नहीं बना सकता ।

रानडे ने रहस्यवाद को भारतीय चिन्तन के चरमोत्कर्ष के रूप में ग्रहण किया है। इसके पीछे वे किसी प्रकार के संशय या अभाव को नहीं मानते। उन्होंने बताया कि रहस्यवाद का उचित स्थान दर्शन नहीं बल्कि धर्म है। यह ईश्वर के अपरोक्षानुभव का साधन है। जैसा कि आलोचकों ने कहा है कि यह मानस की अस्पष्ट वृत्ति है, पूर्णतः निराधार है। रानडे का विचार है कि रहस्यवाद को अपनाकर व्यक्ति जीवन पर्यन्त निरन्तर अपनी सभी वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करके विविध सोपानों पर क्रमशः चढ़ता रहता है दूसरे यह पथ सीमित नहीं है कि इसे जीवन के किसी अंश विशेष में ही समाप्त कर लिया जाय।

रानडे ने रहस्यवादी के लिए दार्शनिक ज्ञान एवं विधि की कोई आवश्यकता नहीं बतायो। उनके अनुसार यदि ऐसा होता तो बहुत से अपढ़ रहस्यवादी जैसे कबीर, आदि अपने उत्कृष्ट विचारों को प्रस्तुत न कर पाते। कबीर की आत्मानुभूति प्रक्रिया उन्हें परमात्मा के बहुत निकट पहूँचा चुकी थी जिसका उल्लेख रानडे ने अपनी पुस्तक ' पाथ वे टु गाड ' और ' परमार्थ सोपान ' दोनों में स्पष्ट रूप से किया है।

इन्हीं विशेषताओं के आधारपर रानडे ने रहस्यवाद को भारत का स्थायी दर्शन समझा। इस पद्धति का आविष्कार उन्होंने भारत के प्रामाणिक ग्रन्थ जिन्हें कि श्रुति कहा जाता है, से किया। ये आप्त वाक्यों के संग्रह में है अतः इसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं है। रानडे ने बताया कि रहस्यवाद पर जितने भी आक्षेप लगाये गये हैं वे सभी एकांगी हैं। उनका हल उनके आक्षेप में ही निहित है क्योंकि स्वानुभव कि प्रामाणिकता से यह स्वतः सिद्ध है कि इसका खंडन नहीं हो सकता क्योंकि यह तार्किक विश्लेषण से परे है। यह ईश्वरानुभूति की मौन प्रक्रिया है। इसका शब्दों द्वारा न तो मंडन ही हो सकता है ओर न तो खंडन ही। अतः रहस्यवाद पर प्रयुक्त सभी प्रकार के आक्षेप अप्रासंगिक एवं निराधार हैं।

भारतीय दर्शन का आधार हमारी प्राचीन संस्कृति, धर्म और दर्शन के मूल स्तम्भ वेद एवँ उपनिषद् हैं। आत्मा और परमात्मा का एकात्म ज्ञान वेदों से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है जो सब भूतों को आत्मा (अपने) में और अपने को सब भूतों में देखता है-- समझता है, फिर वह किसी से घृणा नहीं करता अर्थात् सभी से प्रेम करता है। जहां एकत्व को देखने समझने वाले विद्वान के लिए सभी प्राणी आत्मा ही हो गये, वहां शोक और मोह कैसा ?[24] यही रहस्यवाद का आधार है जहां से रानडे का दर्शन प्रारम्भ होता है। उनकी ईश्वरानुभूति के लिए अवसर इस ज्ञान के बाद ही मिलता है क्योंकि इसके अन्तर्गत आत्मा एवं परमात्मा की एकता तथा आत्मा द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है। एवं परमात्मा का तादात्म्म सम्बन्ध स्थापित किया गया था। इसी सम्बन्ध के आधार पर परवर्ती दार्शनिकों ने उस सम्बन्ध की पूर्णता की प्राप्ति के लिए भरसक प्रयास किया। इन्हीं प्रयत्नों के समुच्चय में प्रो. रानडे का रहस्यवादी, एकान्त ध्यायी प्रयत्न भी निहित है और इसी संदर्भ में रानडे ने अपनी आत्मानुभूति परक विचारों की प्रतिष्ठा की है।

रहस्यवाद वेद का ही मौलिक शब्द है। इसकी शब्द रचना के संदर्भ में रानडे ने किसी बाह्य अनुभव का प्रयोग नहीं किया वरन् उसी अर्थ को ग्रहण किया जैसा वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। इसके संदर्भ में डा. राधाकृष्णन् का कथन है, "यदि अनुभूत से सत्य पर पहुँचना सम्भव है, तो सत्य अनुभूत में भी मिलना चाहिए। मन और इन्द्रियों का अज्ञान और मानव जीवन की निस्सारतायें ये उस सत् की आत्माभिव्यक्ति के लिए उसके उन्मीलन के लिए सामग्री हैं। परमसत्य जगत् की लीला को जीवित रखता है और उसमें निहित होता है। इसीलिए हम जगत् की वस्तुओं की निरपेक्ष से दूरी माप सकते हैं और

24- यर्जुवेद 40/7

उसके अनुसार उनकी सत्ता के स्तरों को आंक सकते हैं।[25] यदि आत्मा परमात्मा का ही अभिन्न अंश है तो परमात्मा को उपलब्धि के लिए आत्मा को प्रयास क्यों करना पड़ता है ? इस प्रश्न को वैदिक काल में ऋषियों ने भी उठाया था और उसका समाधान भी प्रस्तुत किया परन्तु वह एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद एवं बहुदेववाद के प्रसंगों में उलझ कर स्पष्ट न हो सका। आत्मा एवं परमात्मा का तादात्म्य संभव है इतना ही संकेत मिल पाया।

इस तादात्म्य का प्राथमिक ज्ञान हमें वैदिक दर्शन से मिलता है। प्रो. रानडे ने भी स्वीकार किया कि वेदों में आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य का कथन निहित है। यद्यपि वेदों में हमें बहुदेववाद का वर्णन मिलता है किन्तु सभी का समन्वय एकवाद में भी कर दिया गया है। उसमें एकमात्र सत्ता के रूप में परमचैतन्य का उल्लेख मिलता है। सच्चे ज्ञान के लिए विचार और सत्ता की एकता परम आवश्यक है। यह एकता जो विषयी और विषय के भेद का अतिक्रमण करती है। इसकी पुष्टि के संदर्भ में एकहार्ट का कथन है, " ईश्वर अपने पूर्ण ईश्वरत्व सहित शाश्वत रूप से अपने प्रतिरूप (स्वयं आत्मा) में रहता है।[26]

वैदिक एकात्मवाद ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उसी प्रकार बना रहा और याज्ञिक टीकाकारों के द्वारा प्रत्येक बात पर व्याख्या गाथात्मक तथा यज्ञ क्रियापरक कर दिये जाने पर भी तथा दर्शनविदों द्वारा ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड का विभाजन कर दिये जाने पर भी इस परम्परा ने अपने को अक्षुण्ण रखा। निःसन्देह सर्वत्र रहस्यमयता का एक युग रहा है जिसके द्वारा परमतत्व की अभिव्यक्ति होती आयी है। इसके अन्तर्गत गंम्भीरतर ज्ञान और आत्मज्ञान से परिपूर्ण साधकों ने क्रमशः अभ्यास साधन, अर्थपूर्ण विधिविधान तथा प्रतीकों को स्थापित किया और अपने

25- उपनिषदों की भूमिका – डा. राधाकृष्णन्, अनु. रामानाथ शा. पृ. 26

26- मिस्टीसिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट, रूडोल्फ ओटो पृ. 92

अपेक्षकृत आदिकालीन बाह्य धर्मों के अन्दर या उनके एक सिरे पर गुह्य विद्या को रखा। वैदिक ऋषियों का यह विश्वास था कि उनके मंत्र चेतना के उच्चतर गुप्त स्तरों से अन्तः प्रेरित होते आये हैं और वे इस गुह्य ज्ञान को धारण करते आये हैं।

रानडे ने भी गूह्य मंत्रों को महत्व दिया और माना कि परम-साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य साधन है किन्तु उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं पाया। इसी दृष्टि से उन्होंने जन-साधारण के लिए वैदिक तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया। यही उनका प्रमुख ध्येय एवं रहस्यवाद का निरूपण था।

रानडे ने रहस्यानुभूति में जिस तत्व की अनुभूति की अपेक्षा की और प्राप्त किया उसे आनन्द तत्व के नाम से अभिहित किया। इसके लिए उन्होंने उपनिषदों के विभिन्न कोषों में आनन्दमय कोष को ग्रहण किया। उपनिषदों में भी आनन्दमय कोष को सर्वोत्कृष्ट एवं ईश्वर का स्वरूप[27] बताया गया है अतः ईश्वरानुभूति में आनन्द तत्व की प्राप्ति होती है जिसे रहस्यवादी परमतत्व की भी संज्ञा देते हैं।

आनन्दवादी तत्वदर्शन के अनुसार परमतत्व आनंद है क्योंकि रहस्यवादियों की अनुभूतियां आनंद को ही परमतत्व बतलाती हैं। रानडे की कृतियों में अनेक स्थल पर यह प्रदर्शित होता है कि रहस्यवादियों, सन्तों, भक्तों एवं ऋषियों के अनुसार परमतत्व आनंद है। मुण्डकोपनिषद् के इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए रानडे का मत है कि ऋषिगण उसको ज्ञान के प्रकाश से देखते हैं कि वह अमरसत् अपने को आनन्द के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार ऋषियों और सन्तों के अनुभवों से सिद्ध होता है कि आनन्द ही परमतत्व है। ब्रह्मभाव, ईश्वरप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष, अपरोक्षानुभूति सभी वस्तुओं में आनंद लाभ है। वेदान्त में भी इसी तथ्य की मान्यता है। रानडे ने इसकी आधारभूमि का निर्माण भारतीय प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति से कर दिया।

27- मुण्डकोपनिषद्-2/2/7

एक आध्यात्मिक या आंतर सत्य, हमारे अपने आपका सत्य, वस्तुओं का सत्य, जगत् तथा देवताओं का सत्य हम जो कुछ हैं और वस्तुएं जो कुछ हैं इन सबके पीछे विद्यमान सत्य आदि का वर्णन वैदिक प्रणाली में हुआ है। इन सत्यों की खोज रानडे ने वैदिक ग्रंथों उपनिषद् गीता एवं ब्राह्मण ग्रंथों में की, साथ ही साथ पाश्चात्य ग्रीक दर्शन ने अपने दर्शन का प्रस्तुतीकरण पाश्चात्य विधि से समन्वित करके किया है। उनके प्रयत्नोंकी समग्रता उनके सिद्धांतों में प्रकट होकर आत्मानुभूति अथवा आध्यात्मिक अनुभव के नाम से अभिहित हुआ। श्री अरविंद का इस संदर्भ में कथन है, "भारत में दार्शनिकता रहस्यवादियों की जिज्ञासा से ही उदीत हुई और भारतीय दर्शनों ने उनके आध्यात्मिक ध्येयों को कायम रखा तथा विकसित किया और उनकी पद्धतियों में से कुछ को आगामी भारतीय आध्यात्मिक शिक्षण में तथा योग में भी पहुँचाया। वैदिक परम्परा, यह तथ्य कि वेद में एक रहस्यवादी तत्व है; इस ऐतिहासिक सत्य के साथ पूरी तरह ठीक बैठती है और भारतीय संस्कृति के इतिहास में अपना स्थान प्राप्त करती है।" [३८]

अब तक प्राप्त उल्लेखों से यह सुस्पष्ट है कि रहस्यवादी प्रवृत्ति अथवा आत्मानुभूति भारत की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता के श्रोत वेद, उपनिषद् एवं गीता से निःसृत है। विभिन्न काल में इसकी उन्नति विभिन्न दार्शनिकों एवं सन्तों की संरक्षता में हुई है, परन्तु दार्शनिकों की यह मान्यता है कि सभी युगों में रहस्यवादियों में एकरूपता देखने को मिलती है। रानडे का मत है कि सभी युगों के रहस्यवादियों में एक ही धारणा रही है चाहे वे जहाँ के भी निवासी हों। भाषा, अभिव्यक्ति, पद्धति एवं साधना में समानता है। उनके अनुसार सभी रहस्यवादी एक ही भाषा बोलते हैं क्योंकि वे एक ही आध्यत्मिक जगत् के निवासी हैं। इस प्रकार रानडे ने अपनी आत्मानुभूति के परमोत्कर्ष को आनन्दवाद में परिणत किया।

रहस्यवाद का मुख्य लक्ष्य ईश्वरानुभूति है। परमार्थ चिन्तन के बारे में हमें विभिन्न धारणायें प्राप्त होती हैं। वे मोक्ष पर मुक्ति ईश्वर जीव, प्रकृति, आदि तत्वों की चर्चा करना परमार्थ समझते हैं। मोक्ष

को तो इस युग में कल्पना बताया जाता है तथा ईश्वर को प्रायः मृत घोषित कर दिया गया है उदाहरणार्थ नीट्से। ऐसी परिस्थिति में रानडे ने अपने दर्शन विधि द्वारा इसके प्रयोजन की उपोदेयता को कायम रखा क्योंकि उन्होंने परमार्थ चिन्तन के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने का प्रयत्न किया था। रानडे ने इस प्रयोजन की प्रतिष्ठा आनन्दवाद के माध्यम से कायम रखी। उन्होंने इसे आनन्दलाभ के अर्थ में लिया। वे इसके किमर्थ में विवाद करते हैं। उनके विवाद को आनंदवाद में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि आनंदलाभ सदैव अपरोक्षानुभूति होने के कारण तथता या तत्व है। अतः वह परमार्थ के आदर्श रूप सम्बन्धी विवादोंका समाधान करता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार किसी भी व्यक्ति का दर्शन उसकी चेतना की ही अभिव्यक्ति है। चेतना का विकास व्यक्ति के आध्यात्मिक साधन का परिणाम होता है। रानडे का मन्तव्य है कि दार्शनिक को विचारक और साधक दोनों होना चाहिए तभी वह किसी तथ्य की आन्तरिक संरचना तक पहुँच सकता है। रानडे ने इस मान्यता पर बहुत बल दिया क्योंकि इसी आधार पर उन्होंने रहस्यानुभूति का वर्णन विभिन्न सोपानों में प्रस्तुत कर अपने अपूर्व दर्शन की प्रतिष्ठा की। यद्यपि उन्होंने विचार की समग्र प्रक्रियाओं का कभी परित्याग नहीं किया फिर भी उनकी परम् आस्था अपरोक्षानुभूति में ही थी। अपरोक्षानुभूति के सम्बन्ध में रानडे का कथन है, "रहस्यवाद मष्तिष्क की उस मनोदशा को प्रस्तुत करता है जो ईश्वर की बौद्धिक उपलब्धि या प्रतिष्ठा में सीधे तत्काल एवं प्रत्यक्ष रूप में गूढतत्व को प्रगट करता है।"[29] इसी क्रम में रानडे ने आगे चलकर यह भी कहा कि रहस्यवाद ईश्वर के मौन आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है। मौन आनन्द का तात्पर्य उनका आन्तरिक अनुभूति से ही था जिसे उन्होंने आत्मानुभूति नाम से अभिहित किया। इस अपरोक्षानुभूति की प्रक्रिया को दृढ़, एक समान एवं निरन्तर प्रवाह बताते हुए रानडे ने आत्मा की इस विचित्र प्रक्रिया

29–मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र, आर. डी. रानडे पृ.1

को ईश्वरोन्मुख करके परम् आनन्द की प्राप्ति संभव बतलायी है। रहस्यानुभूति में आन्तरिक पक्ष को पुष्ट करते हुए उनका कथन है,

" तत्व क्या है ? अथवा आत्मन् क्या है ? इसके विषय में कौन सा बौद्धिक प्रत्ययन हो सकता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए दार्शनिक को तत्वदर्शन के अन्तराल में जाना पडेगा और जब कोई बौद्धिक समाधान मिल जाय तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि उस ज्ञान को व्यवहार में कैसे प्राप्त करना चाहिए। चरित्र का क्या मानदण्ड होना चाहिए जिसके पालन से कोई ईश्वरत्व को प्राप्त कर ले ? आगे पुनः उन्होंने रहस्यवाद को ही इसका उत्तरदायी भी बताया है। उनके ही शब्दों में, " अतः रहस्यवाद ही सर्वोच्च दृष्टिकोण है जो मानव के सामर्थ्य में है। यह ईश्वर का एक प्रशान्त और भक्तिपूर्ण मनन है। "[30]

इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए रानडे ने रहस्यवाद को अपरोक्षानुभूति की संज्ञा दी। अतः यह स्पष्ट हुआ कि रहस्यवाद का तात्पर्य मष्तिष्क के उस दृष्टिकोण से है जो ईश्वर के निकट व्यक्तिगत और सहज ज्ञानजनित प्रत्यक्ष में विश्वास करता है। ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्मसाक्षात्कार के रहस्यवादी आदर्श में आस्था की बौद्धिक परिपुष्टि के विषय में रानडे का विचार है कि उपनिषद् हमें एक ऐसा रूप दे सकते हैं जो मानव की वैज्ञानिक दार्शनिक और धार्मिक अभीप्साओं को संतुष्ट करेगा क्योंकि वे हमें एक ऐसा दृष्टिकोण देते हैं जो तत्व के व्यक्तिगत प्रत्यक्ष और सहज ज्ञान से प्रतिपादित होते हुए देखा जा सकता है। जिसका कोई विज्ञान खंडन नहीं कर सकता, जिसको समस्त दर्शन अन्तर्चेष्टाओं के अन्तिम लक्ष्य के रूपमें इंगित कर सकता है और जो उन धर्म के विभिन्न रूपों में अन्तस्थ सत्य के रूप में देखा जा सकता है।[31]

डा. राधाकृष्णन् ने रानडे कृत ग्रन्थ 'परमार्थ सोपान' के प्रकाशन के उपलक्ष में आयोजित सभा में अध्यक्षपद से भाषण देते हुए कहा

30- मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र, रानडे पृ. 1

कि यद्यपि रानडे ने अपरोक्षानुभूति पर इतना जोर दिया है तथापि उनके अनुसार अपरोक्षानुभूति बुद्धि का या विचार की विरोधी नहीं है और न सन्त जीवन का यह अर्थ होता है कि सन्त नैतिक कर्तव्यों की अवहेलना करता है। राधाकृष्णन् का कथन है, "जो व्यक्ति सन्त जीवन का आकांक्षी है उसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी बुद्धि तीव्र एवं अमोघ हो, उसमें शक्तिशाली दार्शनिक चिंतन की क्षमता होनी चाहिए। अतः बौद्धिक शक्ति एवं स्फुटित विचार अपरोक्षानुभूति के प्राथमिक लक्षण हैं। अपरोक्षानुभूति का दूसरा लक्षण है व्यक्ति और समाज के नैतिक विकास की उसकी क्षमता।[32]

अपरोक्षानुभूति के सम्बन्ध में रानडे का मत है कि रहस्यवाद का तात्पर्य प्रातिभज्ञान के द्वारा उपलब्ध अपरोक्षानुभूति है। उनकी दृष्टि में तर्क साध्य परोक्षानुभूति तथा प्रातिभजन्य अपरोक्षानुभूति में वही अन्तर है जो किसी अनुभव के विवरण तथा उस अनुभव के उपभोग में है तथा जो ज्ञान एवं सत्ता के बीच विद्यमान है।

रानडे ने काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन की आलोचना करते हुए कहा है, "मैं काण्ट के विज्ञानालोचन, नीत्यालोचन और निर्णयालोचन को एक नये आलोचन द्वारा अर्थात् प्रातिभ ज्ञानालोचन द्वारा परिपूर्ण करने की आवश्यकता सोचता हूँ।"[33] काण्टने स्वयं अपने तीनों आलोचनों में क्रमशः भेद से अभेद की ओर तथा द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ने का प्रयास किया है। उसके दर्शन का परिपाक उदात्तभावना की सिद्धि में होता है। इसी उदात्तभावना के समान रानडे की अपरोक्षानुभूति[34] है। काण्ट के दर्शन की आलोचना के माध्यम से रानडे ने कहा कि तत्वदर्शन की पराकाष्ठा अभेददर्शन में होती है। दर्शन के इस पर्यवसान को जो दार्शनिक अशक्य समझते हैं उनके चिन्तन में साहस का अभाव है।

32– पाथ वे टु गाड इन् हिन्दी लिटरेचर– रानडे, पृ. 4–5

33– दार्शनिक; प्रथमवर्ष तृतीय अंक– 1955 पृ. 2

34– दार्शनिक; प्रथमवर्ष तृतीय अंक– 1955 पृ. 175

सच्चा आनन्द केवल आत्मदर्शन में मिलता है ।[35] इसी आनन्द को रानडे ने निरपेक्ष सत् या ब्रह्म कहा है । इस ब्रह्म की प्राप्ति मार्ग को ही इन्होंने आत्मानुभूति कहा है । आत्मानुभूति को रानडे कोई आकस्मिक क्रिया नहीं मानते बल्कि यह सतत् प्रवाहित नदी की धारा है जो आगे बढ़कर अखण्ड सागर में विलीन हो जाती है । सागर में गिरने के बाद जैसे नदी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार ईश्वरानुभूति के बाद व्यक्ति अपनी सत्ता खोकर ब्रह्म में ही मिल जाता है अर्थात् ब्रह्मवत् हो जाता है ।

आत्मानुभूति के स्वरूप के प्रसंग में रानडे ने सन्त दादू के पद " राम रस मीठा रे " की व्याख्या करते हुए कहा कि दादू से 'सो रस ही रहा समाय', कह कर बड़ा महत्वपूर्ण ज्ञान दिया है । उपनिषद् में इसी स्वरूप को " रसो वैसः " कहकर व्यक्त किया गया है । रानडे ने अपनी पुस्तक ' पाथ वे टु गाड ' में सन्त मौला के निम्नलिखित अनुभव का उदाहरण दिया है ।

आनन्द नहाया बन्दा खुदा, दोनों बिसर गया ।
बेनाम का नाम होकर रहटाना राहा ।।[36]

वेदान्त में भी इसी मान्यता की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि उत्तम, धीर, ब्रह्मवित महात्माओं द्वारा समाधि में अपरोक्षानुभूति द्वारा केवलानन्द के रूप में ही परमतत्व का अनुभव होता है, इसमें सन्देह नहीं है । आत्मानुभूति का प्रारम्भ जैसा कि रानडे ने संकेत किया है, नामस्मरण से प्रारम्भ होता है । ईश्वर के नाम की सतत् आराधना इस क्रिया की पूर्णता प्रस्तुत करती है । रहस्यानुभूति के अन्तर्गत तीन तथ्यों का समावेश होता है । " सहजज्ञानात्मक पक्ष ईश्वर का ज्ञान प्रस्तुत करता है, भावनात्मक पक्ष ईश्वर से प्रेम प्रदर्शित करता है तथा जिज्ञासा पक्ष उससे तादात्म्यता प्रस्तुत करता है ।"[37] ये

35- दार्शनिक, प्रथम वर्ष, तृतीय अंक 1955 पृ. 2
36- पाथ वे टु गाड इन् हिन्दी लिट; रानडे, पृ. 249
37- क्रिटिकल एण्ड कन्सट्रक्टिव एसपेक्ट आफ् प्रो. आर.डी.रावडेज् फिलासफी, ले. वी. आर. कुलकर्णी पृ. 14

तीन पक्ष अलग–अलग न होकर एक ही साध्य के सोपानवत् साधन हैं और आत्मा के ही आन्तरिक अभिव्यक्ति के क्रम हैं। आध्यात्मिक अनुभव के सत्य की दूसरी पहिचान व्यक्ति और समाज के निश्चित नैतिक विकास करने की उसकी योग्यता है। उनका (सन्तों का) अनुभव सदैव ही प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव रहा है। वास्तवमें वह संभवतः मानवोचित सर्वोच्च आनन्द है। कोई रहस्यवादी अत्यधिक भावुक होता है, केवल यह भावुकता बुद्धि के नियंत्रण में रहनी चाहिए।[38] मानव की शक्ति और सर्वोच्च आनन्द का इतना महान् विकास रहस्यवादी अनुभव के सत्य की निश्चित पहचान है। भ्रम अथवा कल्पना से यह कदापि संभव नहीं है।

रहस्यवादी सत्ता के रूप में आत्मचेतना के अनुरूप अन्तर्दर्शन एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। केवल अन्तर्दर्शन द्वारा ही आत्मानुभूति संभव है। ईश्वर के अनुभव के लिए सहजज्ञान जो बुद्धि, संवेदना और संकल्प से भिन्न है, अत्यन्त आवश्यक है। आत्मानुभूति एक ऐसी आध्यात्मिक अवस्था है जिसको एक आधुनिक आदर्शवादी विचारक ने एक ऐसी स्थिति कहा जिसमें युद्ध स्थल, योद्धा और युद्ध सभी का अन्तर अन्तर्ध्यान हो जाता है।

रानडे ने आध्यात्मिक अनुभूति में बुद्धि, भावना एवं इच्छा तीनों के समन्वय की आवश्यकता बतायी। उनका कथन है, '' इस प्रकार ऐसा विदित होता है कि बौद्धिक शक्ति, इच्छा एवं भावना सभी रहस्यानुभूति में आवश्यक हैं। केवल बुद्धि उसे पीछे ढ़केल सकती है। यह रहस्यानुभूति का समन्वित आदर्श एवं बौद्धिक विश्लेषण है।''[39] उपनिषद् भी बार–बार यही घोषणा करते हैं कि वाणी और बुद्धि की पहुँच तत्व तक नहीं। मन और वाणी जिसकी असमर्थता व्यक्त करते हैं उसी का उल्लेख उपनिषदों में इस प्रकार किया गया है–'' जिसको

38– क्रिटिकल एण्ड कन्सट्रक्टिव एसपेक्ट आफ् प्रो. आर. डी. रानडेज् फिलासफी, ले. वी. आर. कुलकर्णी, पृ. 5–6

39– मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र, रानडे, पृ. 2 (भूमिका)

वाणी नहीं बोल सकती, किन्तु जिसके द्वारा वाणी बोल सकती है, जिसको बुद्धि नहीं सोच सकती किन्तु जिसके द्वारा बुद्धि सोच सकती है, जिसको आंख नहीं देख सकती, किन्तु जिसके द्वारा आँख देख सकती है, केवल उसी को ब्रह्म जानों, इसको नहीं जिसे लोग बाहर उपासना करते हैं ।[40]

इससे स्पष्ट हुआ कि आत्मानुभूति आन्तरिक उपासना है । वह बाह्य उपासना की अपेक्षा नहीं रखती है । इसीलिए तो रानडे ने इसे ईश्वर का शान्त मनन व आनंदभोग की प्रक्रिया कहा है । गीता में भी आत्मवित होने का उपदेश भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिया है । आत्मा की वास्तविक स्थिति एवं ज्ञान से पुष्ट साधक ही इस जागरूकता के मार्ग के पथिक हो सकते हैं । रहस्यानुभूति की यह प्रबल प्रेरणा आत्मतत्व को स्वानुभूति से ही प्राप्त होती है किसी बाह्य तथ्य से नहीं । ऐसी अवस्था में विषयी और विषय में एकात्म तथा तादात्म्य सम्बन्ध दृष्टिगत होता है । यही अवस्था परमावस्था है ।

आत्मानुभूति के प्रकार का वर्णन करते हुए रानडे ने यह संकेत दिया कि अपने अन्तस् में ही ईश्वर प्राप्ति की संभावना ही आत्मा की शुद्धि और आत्मचिंतन की दीर्घ प्रक्रिया द्वारा साधक को ब्रह्मान्वेषण की प्रेरक है । इसके लिए आत्मविश्वास एवं आत्म जागृति की महती आवश्यकता वांछनीय है क्योंकि परमात्मा का आत्मा में ही दर्शन हो जाता है । आत्मा में परमात्मा का पूर्ण विश्वास ही आत्मानुभूति का संबल होकर क्रियाशील होता है । इस क्रम में आध्यात्मिक पथ पर साधक को प्राप्त होने वाले दिव्य रूप, दर्शन एवं नादों का प्रसंग उपनिषद् से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है । यद्यपि ये आत्मानुभूति की पूर्णता के द्योतक नहीं हैं, फिर भी उसका संकेत प्रकट करने के चिह्न अवश्यक कहे जा सकते हैं ।

उपनिषदों में प्रायः चार प्रकार के आत्मानुभव दृष्टिगोचर होते हैं जिनका सम्बन्ध साधन को ध्यान प्रक्रिया में अनुभव होने वाले विभिन्न

40- केनोपनिषद् 1,4-8 1

वर्णों, नादों एवं प्रकाशों से है। इन विभिन्न अनुभवों को एक दूसरे से बिना पृथक् किये ही हम भिन्न–भिन्न उपनिषदों से इसका निर्देश प्राप्त कर सकते हैं। श्वेताश्वेतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय में साधक द्वारा अपने परमार्थ पथ के प्रथमचरण पर ही अनुभव होने वाले भिन्न आकारों एवं प्रकाशों का प्रामाणिक प्रसंग मिलता है।[41] बृहदारण्यक का एक अवतरण उसी स्वर में बतलाता है कि " परमार्थ पथ पर कुछ बढे हुए साधक को केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्नि शिखा, रक्तोत्पल, विद्युत की आकस्मिक चमक आदि ऐसे ही दृश्य दिखायी देते हैं। यह आगामी साधक के वैभव हैं।"[42]

आत्मानुभूति में रानडे ने अनाहतनाद का वर्णन किया है। इसे उन्होंने आत्मसाक्षात्कार का संभावित प्रतीक बताया है। इनके अनुसार ये ईश्वरीय कृपा के द्योतक हैं। ऐसा अनुभव उन्हें प्रायः होता था। वस्तुतः नाद एक ही होता है किन्तु औपाधिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए उसको विभक्त किया गया है। योगियों के मतानुसार नाद के सात भेद हैं किन्तु एक मात्र ओंकार या प्रणव ही उपाधि रहित शब्द तत्व के रूप में वर्णित होता है।

रानडे ने इस संदर्भ में उपनिषदीय तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है," साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदीय साधकों को नाद की अपेक्षा रूप और तेज के अनुभव अधिक होते थे। उपनिषदों में नादात्मक अनुभवों के प्रसंग थोडे ही हैं और उनकी भी विशद् उत्पत्ति वहीं दी गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् में और मैत्री उपनिषद् में बताया गया है कि परमार्थ पथ पर साधक कुछ आभ्यान्तरिक नादों का अनुभव करता है जिसका सम्बन्ध उन उपनिषदकारों ने शरीर के आन्तरिक संचालित होने वाली पाचन क्रिया[43] से कर दिया है। इस प्रकार नाद मनुष्य की पाचन क्रिया के परिणाम हैं जिसे मनुष्य कान मूंदने मात्र से

41– श्वेताश्वेतरोपनिषद् 2, 11

42– बृहदारण्यकोपनिषद् 2; 3, 6

43– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. रानडे, अनु रामानंद तिवारी पृ. 223

सुन सकता है और अन्त में जब मनुष्य मरता है तो वह कोई शब्द नही सुन सकता। किन्तु रानडे इसे पाचन क्रिया का परिणाम नहीं मानते। उनका कथन है कि आध्यात्मिक अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि केवल कान मूंदने से ही हमें वह अनाहतनाद नहीं सुनाई पड़ता वरन् हम कान खुले होने पर भी इसे सुन सकते हैं और अन्त में एक बधिर पुरुष चाहे और कोई शद्व सुनने में समर्थ न हो, इस नाद को सुन सकता है। फिर हम इस अनाहतनाद को शरीर की पाचन क्रिया का परिणाम नहीं कह सकते। यह सत्य है कि अनाहतनाद किसी सीमा तक शारीरिक स्थितियों पर निर्भर है किन्तु उसे शारीरिक स्थितियों का परिणाम[44] कहना घोडे के आगे गाडी लगा देने के समान है।

इस नाद की साधना की प्रथम अवस्था में प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में गमन होता है। इसी समय सागर गर्जन, मेघ ध्वनि, भेरी श्रवणादि का श्रवण होता है। इसके साध्य में प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश के समय मृदंग, शंख घंटादि के शब्दों की तरह सूक्ष्म शब्दों का श्रवण होता है और अंतमें जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाती है तब क्षुद्रघंटिका वंशी, वीणा, भ्रमरों आदि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद का श्रवण होता है। नाद में अनुरक्त मन सभी विषयों का परित्याग कर देता है। इससे समाधि लाभ[45] होता है।

इसी प्रकार अप्रकाशित प्रकाश का दर्शन होना भी आत्मानुभूति का एक लक्षण है। भक्ति की भावना एवं उसका सम्बन्ध जब प्रगाढा अवस्थां नें पहुँच जाता है तब साधक प्रेम साधना में अनुरक्त होकर सर्वत्र परमात्मा की प्रेममयी सत्ता का दर्शन करता है। जिस ओर वह अपनी दृष्टि फेंकता है उसी ओर उसे लाल की लाली दिखायी पड़ती है। प्रेम द्वारा असीम को सीमा में लाकर उसकी उन्मादक रसस्विनी में स्वयं को जब वह निमज्जित कर देता है एवं हृदय की दिव्यानुभूति के आवेश में उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है तब उसे

44– उपनिषद्, का रचनात्मक सर्वे. रानडे अनु. रामानंद तिवारी पृ. 224
45– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण–रानडे, अनु. रामानंद तिवारी पृ. 224

ईश्वरानुभूति का अनुभव होता है। इस संदर्भ में गुरुदेव रवीन्द्र ने कहा है, "हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बंधी रहती है तो अपनी विशेषता खो देती है। इसकी विशेषता एकत्व में ही है। यह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्व स्वरूप का बोध कर सकती है और तभी उसे आनन्द की अनुभूति भी होती है।"[46]

इस प्रकार रानडे ने आत्मानुभूतिवादी दर्शन के प्रसंग में इन अलौकिक नादानुभव, प्रकाशानुभव, रूपानुभव तथा विविध रंगों का दर्शन आदि का स्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इन्हें ईश्वरानुभूति का प्रतीक बताया है। एक रहस्यवादी को इन सब का उतना ही महत्व है जिस प्रकार जीवन के लिए समुचित आहार की। ये सभी ईश्वरानुभूति के विभिन्न स्तर कहे जा सकते हैं। इन सभी स्तरों का अन्तर्बोध साधक को होता है परन्तु उसे स्पष्ट वर्णित नहीं कर पाता है। इस स्तर पर अनुभव का क्षेत्र इतना व्यापक एवं आनन्दमय रहता है कि किसी प्रकार की सीमा में बांधकर उसे स्पष्ट करना मुश्किल हो जाता है। रहस्यवादी दार्शनिक एम. सरकार ने रहस्यानुभूति के दो प्रकार माने हैं।

प्रथम तो रहस्यवादी आत्मसंयमी एवं सदाचारी होकर आत्मानुभूति की इच्छा एवं उपलब्धि तक पहुँचता है। दूसरे आत्मानुभूति ईश्वरीय अनुकम्पा की प्रेरणा से साधक को मार्गदर्शन कराती है। ये दोनों मार्ग सत्य की ही विवेचना करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वरानुभूति का आकांक्षी साधक यदि स्वाध्याय से तथा गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान द्वारा आत्मा को जानता है और फिर आत्मज्ञान से प्रारम्भकर शनैः शनैः चिन्तन करता हुआ आत्मा तथा परमात्मा के तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसमें अनुभव के निमित्त वांछित अर्हतायें हैं और वह भक्तिभावना से ओतप्रोत होकर आराधना में लग जाता है तो उसे अन्तः-

---

46– साधना– रवीन्द्रनाथ टैगोर, अनु. विद्यालंकार पृ. 24

प्रज्ञामें अर्थात् आत्मा के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार होता है। उपनिषद्कारों का भी यही कथन है कि " आत्मतत्व के प्रकाश में ब्रह्मतत्व उसी प्रकार दिखायी देता है जैसे दीपक के प्रकाश में वस्तुएँ। "[47]

व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है कि बाह्य वस्तु का ज्ञान बहुत सरल एवं अनुभवगम्य है क्योंकि इंद्रियां बाह्य होने से वस्तु के समीप हैं उसका ज्ञान इन्द्रियों के बाह्य संचार से होता है। जैसे इन्द्रियां वस्तु के निकट हैं वैसे ही आत्मा परमात्मा के निकट है। अद्वैत दर्शन के अनुसार तो आत्मा परमात्मा ही है। उपनिषदों की भी ऐसी ही मान्यता है। अतः आत्मा द्वारा ही परमात्मा का ज्ञान संभव है क्योंकि यह उसके अधिक समीप है। आत्माद्वारा परमात्मा के ज्ञान को आत्मानुभूति की संज्ञा देते हुए रानडे ने इसे निरपेक्ष विकल्प बतलाया। आत्मानुभूति में सर्वप्रथम आत्मा का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। रानडे ने आत्मा के ज्ञान को जगत् की अन्य वस्तुओं के ज्ञान की भाँति प्राप्त नहीं बताया। आत्मा पर किसी बाह्य ज्ञान के साधन का प्रयोग निरर्थक है। अतः उनका कथन है, " जिसके द्वारा सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है, वह स्वयं कैसे ज्ञेय हो सकता है ? ज्ञाता को जानना सर्वथा असंभव है। " यह हमारे लिए सम्भव नहीं कि हम द्रष्टा को देख सकें, श्रोता को सुन सकें और विचारकर्ता का सोच सकें तथा उसकी अनुभूति कर सकें जिसके द्वारा सभी वस्तुओं की अनुभूति होती है।"[48] जहां बुद्धि की प्रक्रिया आत्मसंगति पर आधरित है, वहीं स्वानुभूति आत्मचेतना पर। यही दोनों में सबसे बड़ा अन्तर है। मन अपने विचारों से वास्तविकता को संगति और सामन्जस्य के साथ सुसंगठित कर सकता है, परन्तु तत्वानुभूति उस के बाह्य संगठन व प्रयास के बाहर है। यह केवल स्वानुभूति से ही सम्भव है।

47- साधना-रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. 15

48- कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी: सम्पादक, राधाकृष्णन्, लेखक आर. डी. रानडे, पृष्ठ संख्या 554

रानडे ने आत्मा को वस्तुओं का शाश्वत् ज्ञाता माना है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य ज्ञाता को वे नहीं मानते। ज्ञाता का ही ज्ञान प्राप्त करना आध्यात्मिक अनुभूति है। यह प्रश्न याज्ञवल्क्य ने उठाया था। रानडे का कथन है कि उनके इस प्रश्न का समाधान संभव है। वास्तव में आत्मज्ञान अथवा आत्मानुभूति सत्ता की चरम अवस्था है। आत्मा उसके लिए ज्ञान का विषय हो सकती है।[49]

याज्ञवल्वय ने भी यही माना था कि यदि आत्मानुभुति संभव नहीं तब कोई भी वस्तु ज्ञात नहीं हो सकती और यदि आत्मानुभूति संभव है तो सर्वज्ञान संभव है। आत्मानुभूति अनुभव की चरम परिणति है। तभी तो रानडे का कथन है कि आत्मचेतना और अन्तर्दर्शन अनुभूति के ही सोपान हैं। अन्तर्दर्शन को इन्होंने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य बताया जिसमें आत्मानुभूति का प्रारम्भ होता है। आत्मानुभूति का प्रारम्भ चूंकि अन्तर्दर्शन[50] से ही होता है। अतः आत्मा का अद्वैत ज्ञान परमावश्यक है। आत्मा अपने को ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में इस संदर्भ में विभक्त कर सकता है। आत्मतत्व एक शाश्वत् तत्व है। याज्ञवल्क्य ने भी जनक से कहा था कि जब सूर्य और चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं, अग्नि नष्ट हो जाती है तब आत्मा ही व्यक्ति का प्रकाश होता है। वह उसी के सहारे अपना कार्य करता है।

श्री अरविन्द ने भी परमतत्म को बुद्धिगम्य नहीं माना। उन्होंने ईश्वर के साक्षात् ज्ञान दर्शन को ही परमतत्व से साक्षात्कार का सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताया। श्री. अरविन्द की भी स्वानुभूति की परिभाषा इसी प्रकार है-- " उस बुद्धि द्वारा बहिर्भूत साक्षात् तथा स्वतः सिद्ध ज्ञान को हम स्वानुभूति कहते हैं जो देशकाल एवं कारणता से परिच्छिन्न नहीं है।"[51]

49- कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी: सम्पादक, राधाकृष्णन्, लेखक आर. डी. रानडे, पृष्ठ संख्या 554

50- कन्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी: सं. राधाकृष्णन्, ले. रानडे पृ. 555

51- श्री अरविन्द दर्शन- अभय चन्द्र महाचार्य, पृ. 25

स्वानुभूति की प्रामाणिकता के संदर्भ में उन्होंने कहा है कि प्रामाणिकता के संदर्भ में संवाद सिद्धान्त की तकनीकी कठिनाइयों के वावजूद भी अनुभव में इसकी अंशतः पूर्ति होती है। वह कबीरदास जी की साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आत्मानुभूति में बाहर और भीतर एक जैसा अनुभव होता है। वस्तुतः संवाद खोजने का प्रश्न अनुभव के संबंध में नहीं उठता क्योंकि इनमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत मिट जाना अभीष्ट है। अतः संवाद तादात्म्य में परिणत हो जाता है। अन्य दो आदर्शों से प्रामाणिकता स्थापित की जा सकती है। " अनुभव में सन्निहित आनन्द जिसको साक्षात्कारोत्तर अनुभूति से प्राप्त किया जा सकता है। अर्थक्रियावादी संतोष की आकांक्षा को पूर्ण कर देता है। " [53]

आत्मानुभव सम्बंधी विचारोंकी प्रामाणिकता प्रायः अनुभवकर्ताओंके साक्ष्य की संगतिपर निर्भर करती है। सुसंगति के संदर्भ में यह तो स्वीकार करते हैं जो सर्वाधिक सुसंगत है वह सर्वाधिक सत्य है किन्तु उनका कथन है कि अनुभवकर्ता स्वयं सुसंगति का भी अनुभव नहीं करता। कुछ भी हो इतना कहना तो उपयुक्त ही है कि साधक को अपने अनुभव की सार्थकता का बोध आनंदानुभूति द्वारा प्राप्त होता है और वह अपने सभी अनुभवों में संगति भी कर लेता है। संगति अनुभव कर्ता से भिन्न अध्येता के अनुभव की प्रामाणिकता को निश्चय कराने के निमित्त बहुत ही सक्षम साधन है। वादरायण ने बहुत पहले ही इस तथ्य को समझा था और 'तत्तु समन्वयात्'[54] सूत्र द्वारा व्यक्त किया था। रानडे ने इसी पद्धति को अपनी आत्मानुभूति की प्रामाणिकता के संदर्भ में प्रयुक्त किया। यह संगति सिद्ध करती है कि उपनिषदों तथा सन्तों के कथन प्रामाणिक हैं तभी हम कथित एवं लिखित आत्मानुभव के आधार पर आत्मा, परमात्मा एवं जगत् सभी को तादात्म्य रूप में स्वीकार करते हैं।

53- वेदान्त एज ए कल्मिनेशन आफ् इंडियन थाट, रानडे, पृ. 41
54- बादरायण सूत्र-1, 1, 4

सम्भवतः रहस्यवादी अनुभव का सरलतम और व्यापक रूप वह है जो सौन्दर्य की इन झलकियों में वस्तुओं के सतही गुणों की अपेक्षा कुछ अधिक देखता है। यह इस बात का संकेत है कि " प्रकृति के अन्तर में एक ऐसा तत्व है जो हमारे सदृश है और जो मानों उस आन्तरिक तत्व से हमारी एकता के स्पष्टीकरण का नियंत्रण है।"[55]

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने स्वानुभूति को ज्ञान के एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। वास्तविकता या तत्व के स्वरूप का वर्णन करते समय भारतीय दार्शनिकों में किसी ने बौद्धिक ज्ञान की तुलना में सहज ज्ञान या स्वानुभूति को हीन नहीं समझा। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में भी अनेकों ने स्वानुभूति को तत्वज्ञान का एक साधन समझा है।

उपनिषद् काल में इस परम्परा का अपूर्व विकास हुआ था। शिष्य ऋषियों के आश्रम में विद्यार्जन करते थे तथा वहीं पर गुरुदीक्षा प्राप्त कर आजीवन ऋषिवत् जीवन व्यतीत कर आत्मलाभ प्राप्त करते थे। यह शिक्षा आध्यात्मिक, व्यावहारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी पक्षों में होती थी। गुरुओं को उपाध्याय की पदवी से विभूषित किया जाता था। रानडे ने अपने रहस्यानुभूति दर्शन में गुरु का प्रमुख स्थान निर्धारित किया है। वे गुरु को ही आत्मसाक्षात्कार करने का प्रेरक व मार्गदर्शक मानते थे।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त रामदासने गुरुमाहात्म्य पदपर विशेष बल दिया है। उनका मत है कि जो आवश्यकता भौतिक बीज के लिए उपयुक्त है वही आध्यात्मिक बीज के लिए उपयुक्त है। भौतिक बीज अपने विकास के लिए उपजाऊ भूमि की अपेक्षा करता है तथा अपने संरक्षण के लिए एक चतुर कृषि वैज्ञानिक के संरक्षण में उन्नति करता है ठीक उसी प्रकार साधक की मनोभूमि पर्याप्त रूप में समुन्नत होनी चाहिए। पूर्ण परिष्कृत मन ही ईश्वर साक्षात्कार का अवसर प्राप्त कर सकता है।

55– दर्शन के प्रकार : ले. विलियम अर्न्स्ट हॉकिंग, अनु. रमेशचन्द्र पृ. 260

रानडे का कथन है कि आत्मा का ज्ञान मनुष्य को केवल अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से नहीं मिल सकता। दूसरे यह आवश्यक है कि वह गुरु जिसके पास हम परम विद्या सीखने जायं वह ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर चुका हो क्योंकि जब तक गुरु इस तादात्म्य का अनुभव करके उच्च शिखर पर स्थित न होगा तब तक उसका दिया हुआ ज्ञान उसके शिष्य में सफल नहीं हो सकता।[56]

मनुष्य समस्त सांसारिक बाधाओं, कर्मकाण्ड के पाखंडों, माया सभी से छुटकारा पा भी ले तब भी जब तक गुरु की कृपा नहीं होती तब तक ब्रह्म से मिलन नहीं हो सकता। उपनिषदों में तो गुरु को साक्षात् ईश्वर[57] माना गया है। योग वशिष्ठ में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा गया है।

दुर्लभों विषये त्यागी दुर्लभ तत्वदर्शनम्।
दुर्लभों सहजोवस्था सद्गुरोः करुणा बिना।।

शास्त्र अध्ययन एवं गुरु के उपदेश के बिना आत्मज्ञान नहीं होता है। यही रानडे का भी मूलभूत आधार था। इस संदर्भ में वे कबीर-दासजी के कथन का उल्लेख करते हैं जिसमें गुरु को गोविन्द अर्थात् ईश्वर से भी बड़ा माना गया है।

गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागों पांय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय।।

गुरु साधक का मार्ग दर्शक है। वह उसे कुमार्ग से दूर रखता है। विचलित या चंचल मन को संयमित करता है। लक्ष्य का उद्घाटन करता है। उसे सांसारिक वृत्तियों एवं कामनाओं से परे मोड़ता है और उसकी रुचि ब्रह्म की ओर लगाये रखता है।

56– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी; पृ. 214
57– ब्रह्मविद्योपनिषद्, 3.

सद्गुरु की प्राप्ति के संदर्भ में रानडे का कथन है " अकस्मात् हमें आध्यात्मिक गुरु मिल जाता है। संभवतः हमारे पूर्वजन्मों के प्रतिफल के रूप में। सद्गुरु हमें स्वपथ का बोध कराता है तब अपनी शक्तियों का यथासाध्य उपयोग करते हुए हम आध्यात्मपथ पर क्रमशः पग पग बढ़ते जाते हैं।"[58] इस प्रकार रानडे ने भारतीय चिन्तन में परम्परागत गुरु सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए उसके प्रति अपनी आस्था और श्रद्धा व्यक्त की है।

" सन्त रविदास जी का दृढ़ आत्मविश्वास है कि परमात्मा की कृपा से पूर्व कर्मों के फलस्वरूप पारस रूपी गुरु की प्राप्ति होती है। गुरु की प्राप्ति के उपरान्त साधक को नरक गमन नहीं करना पड़ता। रविदास गुरु और ईश्वर में अभेदतत्व की संस्थापना करते हुए एक ऐसी स्थिति पर पहुँचते हैं जहां गुरु को परमात्मा के समकक्ष मानकर समादृत किया जाता है।"[59]

गुरु महत्ता की इसी भारतीय परम्परा के संदर्भ में अवतारवाणी का यह कथन सर्वथा उल्लेखनीय है, ' जब तक मनुष्य वेदों इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के चक्कर में फंसा रहता है, शरीर को कष्ट देकर साधना करता रहता है और अपनी बुद्धि को बड़ा मानकर ज्ञान के बल पर परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है तब तक तो वह असफल ही रहता है। जब वह गुरुकी शरण में आ जाता है तब गुरु कृपा से ही ब्रह्म का रहस्य समझ में आता है।'[60]

चूँकि रानडे पर महाराष्ट्रीय सन्त परम्परा का पूर्ण प्रभाव था अतः वे अपने रहस्यवादी दर्शन में गुरु की कृपा को महत्वहीन नहीं कह पाये। महाराष्ट्रीय सन्तों की भांति रानडे ने पूर्ण श्रद्धा के साथ गुरु में विश्वास रखा। अपनी अनुभूतियों के प्रसंग में उन्होंने परमार्थ सोपान,

---

58– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. –अनु. रामानंद तिवारी, पृ. 215
59– गुरु रविदास का जीवनदर्शन– डा. पदम गुरुचरण सिंह, पृ. 301
60– अवतारवाणी– 56

पाथ वे टु गाड में गुरु की दीक्षा को ईश्वरानुभूति का आवश्यक पक्ष माना। यही कारण है कि रानडे स्वयं आज भारतीय समसामयिक दर्शन में गुरु की ही भाँति सम्मान पाते हैं।

कबीर दास के माध्यम से उन्होंने गुरु शिष्य के सम्बन्ध को बहुत ही महत्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हुए उनके तीनों उद्देश्यों को ग्रहण किया, जिनसे गुरु की आवश्यकता का बहुत अच्छा बोध होता है।

(१) जाके दरसन साहेब दर से।

अर्थात् ' साधक जब सम्पूर्ण नैतिक तैयारी करके साधनामार्ग पर उतरता है तब गुरु ही उसका मार्ग निर्देशन करता है।

(२) भोग में जोग जगावे।

अर्थात् साधक को इस संसार में रहते हुए गृहस्थ जीवन में ही गुरु परमात्मा के साक्षात्कार का मार्ग सुलभ करता है।

(३) यह मन जाय जहाँ जग जबही, परमातम दरसावै।

गुरु की प्रेरणा से साधक जहाँ भी जिस रूप में भी रहता है वहाँ ईश्वर का ही दर्शन करता है। रानडे गुरु की इस कृपा से विशेष प्रभावित थे। उन्हें कई बार गुरु की कृपा से ईश्वर के दर्शन का अवसर मिला था। रानडे ने अपनी समस्त कृतियों में गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया क्योंकि गुरु ईश्वरानुभूति के पोषक ज्ञान की आपूर्ति का एक सक्षम श्रोत है।

रानडे ब्रह्म की अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं। उनकी मान्यता शंकर के दर्शन का अनुसरण करती है जिसमें बताया गया है कि आत्मा में परमात्मा का दर्शन संभव है अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। अतः रानडे ने ईश्वरानुभूतिवादी दर्शन की व्याख्या के पूर्व आत्मा एवं परमात्मा की तादात्म्य अवस्था का विस्तृत वर्णन किया है। रानडे ईश्वर प्रेम को आत्मसाक्षात्कार का पहला चरण मानते हैं। उनके अनुसार भावसम्वेदनाओं की उच्चस्तरीय आदर्शों के प्रति समर्पण को प्रेम कहा जाता है। इसकी

सबसे बडी विशेषता होती है कि यह सीमाबद्ध नहीं हो सकता। रानडे ने कबीर से लेकर रामदास तक के सभी सन्तों में इसी तत्व के प्रवाह का दर्शन किया जिसके कारण यह तत्व उनके दर्शन में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस प्रेम तत्व को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम तो गुरु के प्रति असीम प्रेम दूसरा ईश्वर-प्रेम। उन्होंने प्राथमिक स्तर को अधिक सुदृढ़ एवं निश्चित होना आवश्यक बताया। द्वितीय स्तर अर्थात् ईश्वर प्रेम के द्वारा साधक को ईश्वरीय कृपा जैसा वरदान प्राप्त होता है। अतः यह भी वांछनीय है क्योंकि ईश्वरीय कृपा प्राप्त साधक परमानंद को प्राप्त करने में उसी तरह पूर्ण अधिकारी हो जाता है जिस प्रकार अमृतपान करनेवाला व्यक्ति मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

प्रेम की परिभाषा व्यक्त करते हुए श्री राम शर्मा आचार्य का कथन है कि प्रेम संसार की वह ज्योति है जिसका प्रकाश पाकर ही व्यक्ति अपने अन्तरंग के कषाय कल्मषों को दूर करता है और हृदय को पवित्र एवं निर्मल बनाता है। विश्व की यह सबसे बडी रचनात्मक शक्ति है।''[61] अन्तःकरण से उठने वाली प्रेम की लपटें शरीर, मन और बुद्धि तथा अन्तःकरण की शक्तियों को उद्दीप्त करके उन्हें ऊपर उठाती है और दिव्य आनन्द की रसानुभूति करवाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि भक्त भगवान को मात्र प्रेम के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

प्रेम की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति ईश्वर प्रेम के रूप में होती है। इसी का अपर नाम '' भक्ति '' है। आत्मा का विस्तार ही भक्ति है और भक्ति ईश्वर का स्वरूप है। अपनी भाव संवेदनाओं को परमात्मा के समक्ष समर्पित कर देना ही भक्ति है। चूँकि परमात्मा विश्वात्मा का पर्याय है। वह शब्द संस्कृत के भज् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है भज सेवायाम्। इससे भक्ति का स्वरूप और स्पष्ट हो जाता

61–अखण्ड ज्योति, नवम्बर 1981 प्रका गायत्री तपोभूमि मथुरा, पृ. 4

है। आत्मानुभूति प्रक्रिया में ईश्वर के प्रति घनिष्ठता और समर्पणभाव क्षुद्र से महान्, लघु से विभु, नर से नारायण और पुरुष से पुरुषोत्तम बनाने में समर्थ है। भक्ति जब व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त होती है तो अन्तःकरण में अनायास ही उत्कृष्ट आस्थायें और उदात्त भावनायें उमड़ने लगती हैं। लेकिन रानडे ने इन सभी क्रियाओं को ईश्वरीय कृपा से ही अनुमोदित बताया है। यह ईश्वरीय कृपा त्रिविध रूप धारण करती है। सर्व प्रथम जिज्ञासु भक्त में सद्बुद्धि उत्पन्न करके बाद में उसकी असहाय भावाकुल स्थिति में अनुकम्पा दिखा कर और अन्त में उसकी तपस्या से आकर्षित होकर उसे अपने 'प्रसाद' को देती है। इससे भक्त की विभिन्नता दूर हो जाती है और वह अक्षय शान्ति एवं सुख में लीन होता है।

रानडे के अनुसार आत्मदर्शन से साधक को नित्य आत्मानंद की प्राप्ति होती है। सभी के प्रति एकता का भाव निर्मित होता है तथा दया एवं विश्वबन्धुत्व आदि गुण उत्पन्न होते हैं। रानडे के लिए परमार्थ ही उनके जीवन का ध्रुवतारा था। आर्त भक्ति से आरम्भ करके साधन और गुरु कृपा के बल पर वे ज्ञानी भक्त के ध्येय तक पहुँचे। ईश्वर की दी हुई शरीर रूपी चादर को बिना मैला किये ही उन्हें वापस दे दी। उनके ही शब्दों में, " हे ! ईश्वर तुम्हारा तुम्हें दे दिया। " इस प्रकार उन्होंने अपना शरीर ईश्वर को अर्पित किया। यह प्रेम की पराकाष्ठा है। इस स्थिति में अन्तरात्मा से आनन्द की निर्झरिणी बहती है जिसमें अवगाहन कर साधक सर्वत्र अपनी ही आत्मसत्ता की अनुभूति करता है। " आत्मवत् सर्वभूतेषु सर्वं खल्विदम् ब्रह्म " आदि वेन्दान्त के वर्णित अद्वैत तत्व की यही स्थिति है जिसमें सर्वत्र अपनी ही सत्ता क्रीडा कल्लोल करती हुई दिखायी देती है।

रानडे के दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति के द्वारा ईश्वर साक्षात्कार ही रहा और इसके लिए परमानन्द की आत्मानुभूति प्रक्रिया को ही माध्यम बनाया।

परमानन्द की प्राप्ति की अवस्था में उपलब्ध अनुभूति का वर्णन करते हुए रानडे ने कहा कि " जब साधक सुषुप्तावस्था में भी ईश्वर

का गुणगान अथवा प्रार्थना करता है तब ईश्वर वहां बैठकर उसे सुनता है। यदि वह बैठकर ऐसा करता है तब ईश्वर खड़ा हो जाता है और यदि साधक भी खड़ा होकर प्रार्थना करे तब ईश्वर साधक के समक्ष ही नाचने लगता है।"[62]

ईश्वरानुभूति के परिणाम का उल्लेख करते हुए रानडे ने कहा कि भक्ति साधक को भूख प्यास सहने की अपूर्व शक्ति देती है। भक्तिकाल में वह भोजन न करने पर भी क्षुधा शान्ति का अनुभव करता है। उसकी काया इतनी पवित्र और निर्मल हो जाती है कि जैसे उसने स्नान किया हो। उसका चेहरा प्रकाश से चमक उठता है। जिह्वा बुरे विचारों को अथवा वाणी को प्रकट करने में असमर्थ हो जाती है। इसी बीच में उसे अनाहतनाद सुनायी पड़ता है जिससे उसके मष्तिष्क के सभी रन्ध्र स्पष्टतया खुल जाते हैं और वह दिव्य दैवी संगीत[63] सुनने लगता है।

परमात्मा के अलौकिक स्वरूप के दर्शन से साधक अपूर्व आनन्द एवं शान्ति का अनुभव करता है। इन दोनों अवस्थाओं को रानडे ने बहुत ही विलक्षण बताया है। उनके अनुसार आनंद हमें ऊपर की ओर उठाता है जब कि शान्ति नीचे गहराई तक ले जाती है। इन दोनों भावों के गहन अनुभव के बाद रानडे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये दोनों भाव एक दूसरे के विरोधी कदापि नहीं हैं क्योंकि शान्ति से सामन्जस्य स्थापित करके एवं उसके योग से ही आनंद अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति करता है। आनन्द शान्ति की आवश्यक विशेषता है।[64] अथवा शान्ति आनन्द की चरम परिणति है। गौड़पाद ने अपनी कारिका में इसी तथ्य का उल्लेख किया है।[65]

62– पाथ वे टु गाड इन् कन्नड लिट. रानडे, पृ. 267–68

63– पाथ वे टु गाड इन् कन्नड लिट. रानडे, पृ. 262–62

64– क्रिटिकल एण्ड कन्स्ट्रक्टिव एस्पेक्ट आफ् रानडेज् फिला. बी. आर. कुलकर्णी पृ. 164

65– गौडपाद, कारिका 3, 37,

रानडे का मत है कि परमानन्द की प्राप्ति के पश्चात् इच्छायें व आवश्यकतायें अपने आप समाप्त हो जाती हैं। माया मोह विनष्ट होकर वैराग्य में परिणत हो जाता हैं। ज्ञानेश्वर के कथन द्वारा ईश्वरानुभूति के परिणाम को और अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। उनका कथन है, " जब वे इस पवित्र धाम में प्रवेश करते हैं तब उनकी शारीरिक चेतना स्वतः नष्ट हो जाती है। उनका मनस् अतिमनस् में बदल जाता है। बंधन के सभी विचार दूर हो जाते हैं। प्रज्ञा पूर्णतः विनष्ट हो जाती है। शब्द शून्यवत् हो जाते हैं। उसकी दृष्टि में एक अलौकिक चमक आ जाती है। उसकी दृष्टि में रात और दिन का भेद समाप्त हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व एक अलौकिक प्रकाश में बदल जाता है तथा ईश्वर की गहन अनुभूति होने लगती है।"[66]

प्रायः इन्हीं संकेतों को रानडे ने अपने रहस्यवादी दर्शन द्वारा प्रस्तुत किया है। आत्मज्ञान का अर्थ जिसे वे साधारण ज्ञान से भिन्न आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त ज्ञान मानते थे। इसके लिए उन्होंने कतिपय पूर्वमान्यताओं, नैतिक तैयारियों आदि का विशद उल्लेख किया है जिसके पालन से साधक शीघ्र ही परमतत्व की अनुभूति कर सकता है। आत्मानुभूति के संदर्भ में उनका मत था कि अन्तर्मुखी होकर अन्तर्जगत् का अवलोकन और उसके परिष्कृतिकरण के लिए योगाभ्यास में कई प्रकार की ध्यान एवं धारणा की आवश्यकता होती है।

रानडे ने आत्म जागृति को ही पर्याप्त नहीं बताया। यदि साहस को सही दिशा मिल जाय और आत्मचेतना उर्ध्वमुखी हो जाय तो इसकी परिणति विधेयात्मक हो सकती है। आत्मिक क्षमता बढ़ने पर ब्रह्माण्डीय चेतना के समुद्र से व्यक्ति चेतना को बहुमूल्य उपहार मिलने लगता है। यह आत्मसाधना से ही संभव है। आत्मसाधना का अर्थ है, व्यक्ति चेतना के स्तर को इतना परिष्कृत करना कि उस पर ब्रह्म चेतना के अनुग्रह का अवतरण सहज सम्भव हो सके।

66- मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र: रानडे, पृ. 12 (भूमिका)

रानडे ने आत्मानुभूति के लिए ईश्वरीय अनुकम्पा को नितान्त आवश्यक बताया क्योंकि आत्मसत्ता का चुम्बकत्व इस अनुदान को सहज आकर्षित करके उसके संकेत से उसकी ओर परायण होता है। रानडे ने इस मार्ग पर बढ़ने के लिए सांसारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की उपेक्षा को अनावश्यक बताया। उनके अनुसार गृहस्थ जीवन में रहकर भी आत्मिक प्रगति संभव है। रानडे के अनुसार अद्वैतवाद ऐसे ईश्वर की कल्पना का निषेध नहीं करता। केवल उक्त उद्देश्यों के लिए वह ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करता है किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण ब्रह्म की कल्पना को ईश्वर की कल्पना से श्रेष्ठ मानता है। अद्वैतवादी के लिए ईश्वर ब्रह्म का सगुण स्वरूप है और ब्रह्म ईश्वर का निर्गुण रूप है। इसी भाव को लेकर माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है ब्रह्म न अन्तः प्रज्ञ है और न बहिर्प्रज्ञ और न उभय प्रज्ञ। वह अदृष्ट अव्यवहार्य, ग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य है। वह आत्मप्रत्यय सार है। उसमें समस्त प्रपंच का उपशम हो जाता है। वह शान्त, शिव और अद्वैत है।[67]

आत्मा और परमात्मा की एकताका प्रमाण हमें उपनिषदों से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। जैसे ही आत्मा इस नाशवान शरीर से छूटती है वह सदा के लिए ब्रह्म में लीन हो जाती है।[68]

इस प्रकार रानडे ने परमतत्व की खोज के तीन मार्ग बतलाए पहला सृष्टि विधान मूलक, दूसरा ईश्वरशास्त्र मूलक और तीसरा मनोविज्ञान मूलक। यदि हम दार्शनिक विचार जगत् के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होगा कि दार्शनिकों ने परम तत्व की खोज अनेक मार्गों से की है। डा. केयर्ड मानते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण प्रकृति के ही अनुकूल उसके लिए केवल तीन विचार पथ खुले हुए है वह अपने अन्तस् में निहित आत्मा की ओर देख सकता है वह ऊपर ईश्वर

67– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. प्रो. रानडे. अनु. रामानंद ति. पृ. 150

68– (छान्दोग्योपनिषद्, 111 14–4)

की ओर देख सकता है जो बाह्याभ्यान्तर दोनों का समीकरण है तथा अपने को दोनों में अभिव्यक्त करता है।[69]

उक्त प्रणाली के आधार पर रानडे ने अन्तस् में निहित आत्मा का ही दर्शन सर्वप्रथम किया और इसी के आधार पर आत्मा ही परमात्मा है, इस चरमोत्कर्ष की प्राप्ति की।

शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा परमात्मा का ही अंश है जिस प्रकार सूर्य की विभिन्न रश्मियां सूर्य से अभिन्न हैं उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। अज्ञानवश हम उस परमरूप का दर्शन नहीं कर पाते। इसी मान्यता को आधार मानते हुए प्रो. रानडे ने अपने ईश्वरानुभूतिपरक दर्शन का प्रणयन किया और अपने विकास मार्ग में सर्वप्रथम आत्मा की अनन्त शक्ति का परीक्षण किया। आत्मानुभूति ही परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान उपलब्ध करा सकती है ऐसी मान्यता लेकर विभिन्न सोपानों का वर्णन किया।

प्रो. रानडे आनन्द को ही परमतत्व मानते हैं। उनके अनुसार- "यदि केवल ज्ञान परमतत्व हो सकता है तो केवल आनन्द क्यों नहीं हो सकता ? क्या उपनिषदें अन्ततोगत्वा आनन्द को ही परमतत्व नहीं कहतीं ? आनन्द ब्रह्म है।[70] 'आनन्दाद्वैव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रत्यमिसविशन्तीति।'[71] अर्थात् " आनन्द से ही भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से ही उत्पन्न होने के बाद जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं।

अपरोक्षतयैवात्मा समाधावनुभूयते।
केलानन्द मात्रत्वनैवमत्र न संशयः ॥[72]

69- इवोल्यूशन आफ् रिलीजन, डा. केयर्ड; पृ. 77
70- ज्ञानमूल और सत्- प्रो. संगम लाल पाण्डेय, पृ. 117
71- तैत्तरीय उपनिषद् 3, 6
72- सर्ववेदान्त सिद्धांतसार, शंकराचार्य पृ. 666-667

इस आनन्द या रस को काव्यगत रस तथा इसके समान अन्य रसों से भिन्नता दिखाते हुए रानडे ने कहा कि उपनिषद् वाक्य " रसो वै सः में रस पद से तत्वदर्शन या रहस्यवाद का रस अभिप्रेत है। फिर चाहे भक्तिकाव्य का ही रस क्यों न हो, ईश्वर रूपी रस की अस्पष्ट प्रतिच्छाया है।"

आनन्दवादी तत्वदर्शन आनंद की परिभाषा अद्वैत वेदान्तियों का अनुकरण करते हुए प्रस्तुत इस प्रकार करता है।

" आनन्द का प्रत्ययन मनोवैज्ञानिक नहीं है। आनन्द कोई मनोवृत्ति नहीं है। यह तत्वदार्शनिक बोध है। सत् की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम आनन्द है।" [73]

अतः सत् का अन्तर्भाव आनन्द में हो जाता है। प्रो. रानडे ने इसी तथ्य को इस रूप में प्रस्ततु किया है--- " सत्ता का मूल श्रोत प्रातिभ आनन्द ही मानना उपयुक्त है।[74] इससे यह स्पष्ट हुआ कि सभी वस्तुओं का उत्स आनन्दानुभूति ही हो सकती है।"[75]

इच्छा और आनुभविक बुद्धि की व्याकुल चेष्टाओं के शमन से जीवात्मा में 'सर्वोच्च' के प्रकट होने की परिस्थितियाँ तैयार होती हैं। इसलिए शांत, आत्मनिग्रही, वीतरागी सहनशील और समाहित होकर मनुष्य अपनी आत्मा में ही परमात्मा को देखता है।

जिस प्रकार जगत् की सैद्धांतिक समझ के लिए बौद्धिक अनुशासन होता है उसी प्रकार सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन होता है। जिस प्रकार हम तैरने की कला उसकी चर्चा से नहीं जान सकते और उसे केवल पानी में उतरकर और तैरने के

73- कम्पेरेटिव स्टडीज् इन् वेदान्त, एम्. एन्. सरकार पृ. 30-32

74- ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी, ले. प्रो. रानडे अनु. रामानन्द तिवारी, पृ. 114

75- ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी, ले. प्रो. रानडे अनु. रामानन्द तिवारी पृ. 115

अभ्यास से ही सीखा जा सकता है उसी प्रकार सैद्धान्तिक ज्ञान चाहे वह कितना भी क्यों न हो आध्यात्मिक जीवन के अभ्यास का स्थान नहीं ले सकता। हम ईश्वर को ईश्वर तुल्य होकर ही जान सकते हैं। ईश्वर तुल्य होने का अर्थ है अपने भीतर के उस दिव्य केंद्र में सचेत रूप से लौटना। जहाँ कि बिना हम इस चीज के जाने हुए सदा रहे हैं और इस तरह अपने भीतर के प्रकाश से अवगत होना है।[76]

परब्रह्म का बोध केवल चेतना के सर्वोच्च प्रयत्न से ही होता है। अतः रानडे जी ने चेतना के परम स्तर अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक अनुभूति अथवा रहस्यानुभूति का आश्रय लिया। यह उनका सर्वथा सफल मार्ग रहा और स्वयं ही परम आनन्द की अनुभूति प्राप्त की।

उक्त मार्ग के विशद विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि परमतत्व परमानन्द ही है। वह ब्रह्म जिसकी अनुभूति हमें आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त होती है सर्वथा आनन्दमय है। इस प्रकार आनन्दवाद की प्रतिष्ठा हुई। रानडे ने अपने आनन्दवाद की व्याख्या सर्वजनहिताय के दृष्टिकोण से अत्यन्त सरल एवं सुगम मार्ग के द्वारा की है। इस संदर्भ में रानडे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह श्रेणी है जहाँ पहुँचकर एक आधुनिक आदर्शवादी तत्ववेत्ता के अनुकूल युद्ध भूमि, योद्धा और युद्ध का अन्तर मिट जाता है। उस एकत्व के स्वर्गीय संगीत का परम मींग, जिन शब्दों में हुआ है वे अन्य देशों के इसी प्रकार के आध्यात्मिक उद्‌गारों का स्मरण दिलाते हैं।[77]

ईश्वरानुभूति का महत्वपूर्ण तथ्य उपासना है। यह सूक्ष्म साधना का वह स्तर है जिसमें मनुष्य और भी ऊँचा उठकर अपने

76- उपनिषदों की भूमिका, डा. राधाकृष्णन्, पृ. 103 अनु. रामानन्द शा.
77- उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण. ले. प्रो. रानडे एवं
अनु. रामानन्द तिवारी पृ. 231

गुण, कर्म स्वभाव व दृष्टिकोण को परिष्कृत करता है। इसके द्वारा वह अपनी प्रसुप्त सामर्थ्यों को जगाता है। उस परब्रह्म के स्वरूप से तादात्म्य कैसे हो, इस विद्या का ही अष्टांगयोग की ध्यान नामक स्थिति विशेष में विवेचन किया जाता है। ब्राह्मी चेतना के इस विशाल सागर का स्वरूप इतना बड़ा है कि समीम बुद्धिवाले मानव के लिए उसको जानकारी प्राप्त कर सम्पर्क जोड़ पाना सम्भव नहीं। " नेति नेति " कहकर इसीलिए वेदान्तदर्शन में उसे अचिन्त्य, अनिर्वचनीय और अगम्य बताया गया है। रहस्यानुभूति में इन समस्त समस्याओं का निदान हो जाता है, ऐसी रानडे की मान्यता है। रानडे ने ईश्वरानुभूति के अन्तर्गत उपासना को महत्व इसीलिए अधिक दिया है।

उपासना मूलत: भाव विज्ञान की उच्चस्तरीय स्थिति है जिसमें मन:स्थिति के अनुरूप साधक को अपना माध्यम चुनना होता है। सतत् परिष्कृति एवं प्रगति के सोपानों पर चढ़ता हुआ साधक ऐसी स्थिति विशेष में जा पहुँचता है जहाँ उसे फिर किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। यही आत्मानुभूति अथवा परब्रह्म से साक्षात्कार का स्तर है। रानडे ने आत्मदर्शन द्वारा ही इसे संभव बताया। इस आत्मदर्शन को उन्होंने उपनिषद्कारों के " आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: " के संदर्भ में ग्रहण कर गीता के " उद्धरेत् आत्मनात्मानं " के संदर्भ में पुष्ट किया। उनके अनुसार यह आत्मदर्शन ही प्रकारान्तर से ईश्वरदर्शन है और इसी उपलब्धि को उन्होंने जीवन-मुक्ति भी कहा।

❖ ❖

छठा परिच्छेद

समकालीन दर्शन में रानडे का योगदान

सत्ता के अभिज्ञान के प्रति अनन्त जिज्ञासा भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है। निःसन्देह भारत वर्ष की आध्यात्मिकता इस मूल सत्य के साक्षात्कार में निरन्तर प्रयत्नशील रही तथा सृष्टि के रहस्य एवं मानवीय जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान समय समय पर प्रस्तुत करने में सफल रही। इसका प्रमुख माध्यम धर्म और दर्शन दोनों है। मुख्यतः इन दोनों का अपूर्व समन्वय वेदान्त दर्शन को अद्वैतभूमि पर सुस्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है। धर्म और दर्शन के तात्विक स्वरूप के कारण ही यह अव्यक्त और ससीम तत्व मानवीय चेतना की परिधि में आने में सफल हुआ। मानवीय चेतना में परम सत्ता के अवतरण के सन्दर्भ में दार्शनिकों एवं चिन्तकों में जिज्ञासा इतनी प्रबल रही कि समय समय पर दर्शन एवं धर्म में आन्दोलन सा उभरता रहा। इस आन्दोलन का प्रमुख कारण था कि पूर्ववर्ती विचारधारा उनकी जिज्ञासा को सन्तुष्ट नहीं कर पा रही थी।

भारत वर्ष में जितने भी आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के पीछे कोई न कोई दार्शनिक प्रेरणा अवश्य रही है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में पुनर्जागरण काल इसी प्रकार की दार्शनिक प्रेरणा एवं चिन्तन की देन है। इसका प्रमुख कारण था कि भारतवर्ष की धर्म एवं दर्शन के प्रति अपूर्व निष्ठा एवं इसकी रक्षा के प्रति जागरूकता सदैव विद्यमान रही। हजारों वर्षों विदेशियों की दासता में रहने के बावजूद भी इस देश की संस्कृति और दार्शनिक विचारधारा न टूट सकी अपितु उसने अपना अस्तित्व सदैव बनाये रखा।

काल क्रम में प्राचीन आदर्शों तथा मूल्यों पर हमारे तत्ववेत्ताओं एवं दार्शनिकों के मन में अविश्वास तथा सन्देह अवश्य उत्पन्न हुआ, किन्तु उन्होंने उस प्राचीन तथ्य को एक नये आयाम द्वारा समझने और प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया ।

वास्तव में समस्त दार्शनिक मतभेदों को समन्वित करने की शक्ति हो समकालीन दर्शन को सार्वभौमिक तथ्य प्रस्तुत करने में सहयोग देती है । यह शक्ति द्वन्द्वात्मक शक्ति से परे तथा बुद्धि द्वारा अग्राह्य चिन्तन की एक नयी विधा की जन्मदात्री है । अतः सम-सामयिक दर्शन ने व्यावहारिक पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयास अधिक किया क्योंकि सत्य की खोज या तत्वानुभूति बौद्धिक व्यायाम न होकर जीवन की अभिव्यक्ति है । उसे व्यावहारिक भूमि पर प्रकट करने के लिए समकालीन दार्शनिकों ने आत्मानुभूति द्वारा उस मार्ग को पुष्ट किया जो शताब्दियों वर्ष पूर्व वैदिक एवं औपनिषदिक ऋषियों के विचारों में निहित थी ।

वैदिक युग से अब तक भारतीय दर्शन में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है । इसका प्रमुख कारण था कि भारतीय दर्शन की प्राचीन मान्यता व आस्था प्राणशक्ति के रूप में सदैव विद्यमान रही, केवल आकारिक परिवर्तन का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है । भारतीय दर्शन के अन्तर्गत समसामयिक काल बहुत ही महत्वपूर्ण चरण है । इसका शुभारम्भ भारतीय पुनर्जागरण काल की अवधि में हुआ । समकालीन दर्शन के शुभारम्भ में राजनीतिक जागृति का विशेष योग दान है । उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के जिन आन्दोलनों ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वे सैद्धान्तिक दृष्टि से तत्ववादी मध्ययुगीन तथा अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे । भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की रक्षा के लिए दार्शनिकों, विचारकों, एवं राजनयिकों ने एक समन्वित आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस नवजागरण का प्रथम चरण श्री राजा राममोहन राय की संरक्षता में प्रारम्भ हुआ । 1928 ई. में उन्होंने ब्रह्म समाज की

स्थापना की। तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना करके इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया तथा मानव मात्र को 'वेदों की ओर लौटो' इस कथन द्वारा आह्वान किया।

इस समय समाज में जो कल्मष छाया हुआ था, उसके लिए विविध उपचार प्रक्रियायें प्रारम्भ हुईं, किन्तु रोग का वास्तविक निदान ये उत्साही समाज सुधारक पूर्ण रूपेण नहीं कर पाये। आवश्यकता थी इसके आन्तरिक उपचार की। इस कार्य का श्रीगणेश स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त के ही "एकमेवाद्वितीयम्" महावाक्य पर आधारित एकेश्वरवाद की ओर प्रबुद्ध लोगों की आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस कार्य को उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने प्रभावित ढंग से आगे बढ़ाया। शंकराचार्य के समान विवेकानन्द भी परमसंकट की घडी में भारत-भूमि पर अवतीर्ण हुए। भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द को "नव्य वेदान्त" का जनक कहा जा सकता है। उन्होंने उपनिषदों को आधार मानकर वेदान्तदर्शनको उसके दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित नहीं रहने दिया वरन् उसके धार्मिक पक्षपर महत्व दिया। वेदान्त की अद्वैत-भूमि पर धर्म और दर्शन का मिलन होता है इस कथन को सार्थकता प्रदान करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि वेदान्त में ईश्वर भक्ति का विषय तार्किक विश्लेषण का नहीं है। इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन में वेदान्त का वह सनातन आदर्श फिर से एक बार समग्र देश में आन्दोलित हुआ, लेकिन अब यह सामुदायिक विभेदों से मुक्त एक समन्वयात्मक प्रयास के रूप में प्रकाश में आया।

भारतीय समकालीन दर्शन में 'समन्वयवाद' इसकी प्रमुख विशेषता रही है। यह समन्वय एक ओर पूर्व और पश्चिम के दर्शन की एक साथ व्याख्या करता हैं तो दूसरी ओर प्राचीन भारतीय संस्कृति में व्याप्त विरोधों को दूर करने के लिए समन्वयवादी प्रवृत्ति का अनुकरण करता है। प्राचीन भारतीय दर्शन में भी मूलतः दो परम्पराओं

का दर्शन होता है । प्रथम आचार्य परम्परा और दूसरी है सन्त परम्परा । उद्‌भव की दृष्टि से संत परम्परा आचार्य परम्परा से पहले आती है । आचार्य परम्परा तो सन्त परम्परा की व्याख्या द्वारा उसकी ही अभिव्यक्ति करती है । भारतीय समसामयिक चिन्तन में दोनों बौद्धिक समस्याओं में उलझ जाते हैं । परिणामतः सन्त का आदर्श उसके लिए एक सुदूरवर्ती लक्ष्य ही रह जाता है । सन्त परम्परा ने प्रारंभ से ही तत्वानुभूति को सहज एवं अनिवार्य बनाने की चेष्टा की । यद्यपि समकालीन दार्शनिकों ने आगे चलकर इस पक्ष को सुदृढ़ बनाया फिर भी इसका निर्वाह सन्त परम्परा के आदर्श के रूप में न हो सका । आचार्य परम्परा का अस्तित्व भी कुछ दिनों में नष्ट होने लगा । परिणामस्वरूप उन आचार्यों के सिद्धान्तों पर पुनर्व्याख्या का क्रम चल पड़ा जिससे समसामयिक दर्शन के स्वरूप एवं उद्देश्य का निर्माण हुआ ।

भारतीय समकालीन दर्शन के उद्‌भव का प्रमुख कारण वेदान्त दर्शन में व्याप्त मतभेद एवं उनकी अस्पष्ट अभिव्यक्ति प्रणाली है । वेदान्त दर्शन की पुनर्व्याख्या कर उसे यथार्थवादी भूमि पर ईश्वरानुभूति के रूपमें प्रस्तुत करना दार्शनिकों का लक्ष्य रहा । इन दार्शनिकों ने आत्मानुभूति को स्वतः प्रामाणिक मानते हुए जनसाधारण के लिए इसे सुलभ व बोधगम्य बताया । इसके पूर्व उसमें व्यावहारिक दृष्टिकोण का अभाव था । इस अभाव की पूर्ति समकालीन दार्शनिकों ने की । समसामयिक काल में दार्शनिकों की तत्वान्वेषिणी दृष्टि ने मानवीय व्यक्तित्व के प्रत्येक पार्श्व के अंतराल में झांककर उत्कर्ष की संभावनाओं को पहिचाना और उन संभावनाओं के सर्वांगीण विकास की एक सुनिश्चित रूपरेखा भी प्रस्तुत की । इस अभिज्ञान के लिए आवश्यकता होती है तत्व का साक्षात्कार करने में सक्षम उस अन्तर्भेदिनी दृष्टि की, जो अनृत तथा अवास्तविकताओं के आवरण में छुपे हुए सत्य को अनावृत कर सकें तथा जिसके व्यक्त और अव्यक्त, अन्तर और बाह्य दो पार्श्व हैं और जिसके समन्वय के बिना जीवन में सत्य की अनुभूति संभव नहीं है ।

मूलतः मानव की स्थूल चेतना उसे सांसारिक तथा दैहिक अनुभूतियों से बांधे रखती है और आध्यात्मिक चेतना उसे शारीरिक स्तर से ऊपर उठाकर अनुभूति के सत्य स्फूर्ति स्तर पर खींचने का प्रयत्न करती है। इन द्विविध प्रवृत्तियों के बीच समसामयिक दार्शनिक अपने को सन्तुलित न कर पाये। परिणामस्वरूप उन्होंने दर्शन को धर्म से समन्वित कर उसे एक सार्वभौमिक एवं निरपेक्ष प्रामाणिकता प्रदान की। अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों में सन्तुलन और सामन्जस्य स्थापित करना किसी शुष्क और औपचारिक सिद्धान्त का कार्य नहीं है। इसके लिए एक ऐसे भावनात्मक आधार की आवश्यकता हुई जिस पर उसकी विविध प्रवृत्तियों का केन्द्रीयकरण हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति समसामयिक दार्शनिकों की चिन्तनात्मक प्रणाली ने पूरी की। इन दार्शनिकों का विचार था कि यह सच है कि तार्किक उपलब्धियाँ व्यक्ति को बौद्धिक स्तर पर संतोष देती हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सत्य का यह बौद्धिक अभिज्ञान उसे व्यवहार में भी सत्य की अनुभूति करा सके। सत्य की वैचारिक गवेषणा व्यक्ति की बौद्धिक क्षमताओं का विनाश तो निश्चित करती है किन्तु उसकी समस्त वृत्तियों का वैसा संस्कार नहीं कर पाती जैसा धर्म के भाव संवेग करते हैं। समसामयिक दार्शनिकों ने बौद्धिक गवेषणा का विरोध नहीं किया बल्कि बौद्धिक गवेषणा की अपेक्षा चिन्तन को विशिष्ट महत्व दिया। इस चिन्तन को उन्होंने आत्मानुभूति, रहस्यानुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति दिव्यानुभूति आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया। --

समकालीन दर्शन का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसकी प्रक्रिया अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद की ओर है। इसके अन्तर्गत परमसत्ताको "एकमेवाद्वितीयम्" के माध्यम से स्पष्ट करते हुए पूर्ववर्ती वेदान्त दार्शनिकों के मतभेद को दूर करनेका प्रयत्न किया गया है। एकेश्वरवाद की स्थापना सर्वथा नवीन नहीं कही जा सकती क्योंकि इसका संकेत वेदान्त में मिलता है और समकालीन दर्शन के प्रादुर्भाव का मूलकेन्द्र होने के कारण वेदान्त का यह तथ्य चिन्तन की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

समकालीन दार्शनिकों ने वेद, उपनिषद् एवं गीता विषयक महत्व-पूर्ण तथ्यों की व्याख्या ही नहीं की बल्कि पाश्चात्य दर्शन जगत् को भारतीय दर्शन से एकीकृत भी कर दिया। पाश्चात्य दर्शन के भौतिक वादी एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समन्वित करने का यह अभिनव प्रयास ही समकालीन दर्शन को विश्वदर्शन कहने का अवसर देता है। इसमें पूर्ववर्ती तथ्यों को मौलिक विचारों द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा निहित है। यद्यपि समकालीन दार्शनिकों ने किसी मौलिक दर्शन की स्थापना नहीं की फिर भी उन्होंने वेदान्त की जो पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की उसमें नवीनता का पुट दिखायी पड़ता है। इन दार्शनिकों के सामने प्रधान समस्या थी कि किस प्रकार परमतत्व की अनुभूति अथवा साक्षात्कार व्यावहारिक जीवन में संभव हो सकता है। इसके लिए वे धर्म एवं दर्शन दोनों का समान सहयोग स्वीकार करते हैं।

समकालीन दर्शन की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि यह शताब्दियों पूर्व के तथ्यों की पुनर्स्थापना का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह आन्तरिक संघर्ष का स्तर है। जिसमें दार्शनिकों ने अपने विचारों को स्पष्ट करनेका मौलिक प्रयास किया है। इन्होंने यह सिद्ध किया कि पूर्ववर्ती विचारधारा अथवा दर्शन पूर्णतः अवैज्ञानिक नहीं है जिसकी खोज हमें सदियों से प्रेरित करती आ रही है।

समकालीन दर्शन की दूसरी विशेषता है कि यह पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने का अपूर्व प्रयास है। इस महत्व-पूर्ण प्रयास के द्वारा भारतीय दर्शन को विश्वदर्शन कहे जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ क्योंकि इसमें पूर्व और पश्चिम दोनों दर्शन के सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है।

समसामयिक दर्शन की तीसरी विशेषता है कि इसके अन्तर्गत दर्शन आनन्द प्राप्ति का बौद्धिक प्रयास न होकर अपितु परमसत्ता के साक्षात्कार का आध्यात्मिक चिन्तन प्रधान प्रयास है जिसे रानडे ने "आत्मानुभूति" शब्द से अभिहित किया है।

समकालीन दर्शन की चौथी विशेषता है कि यह सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष को सत्ता के स्वरूप-ज्ञान में अधिक उपयुक्त पाता है। आत्मतत्व में ही ब्रह्म तत्व की संभावना का यह अन्तः प्रयास दर्शन विधि की सर्वोत्कृष्ट एवं प्रामाणिक विधि है। इसके लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

पांचवीं विशेषता है कि समकालीन दार्शनिकों ने ईश्वरानुभूति को ही एक मात्र उद्देश्य बनाकर विविध मार्गों को समन्वित किया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को समान रूप से स्वीकार करते हुए गीतादर्शन की मान्यता को अक्षुण्ण रखा। आत्मा की अनन्त शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास है। अतः वे आत्मानुभूति प्रक्रिया द्वारा उस अदृश्य सत्ता के साक्षात्कार का सरल व सुबोध मार्ग स्वयं वरण करते हैं।

इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत तत्वशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, एवं मोक्ष के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ है, केवल अस्पष्ट तथ्य ही इस संदर्भ में उपलब्ध है। समकालीन दार्शनिकों ने वैज्ञानिक विश्लेषण से तात्पर्य विशिष्ट चिन्तन के आयाम से लिया और इस अर्थ में दर्शन के प्रयोजन को पूरा किया। श्री विवेकानन्द, अरविन्द, रानडे एवं राधाकृष्णन् आदि दार्शनिकों ने अपने चिन्तन प्रधान उत्कर्षों से इस की असीम गहराई तक पहुँचने का अनवरत प्रयास किया।

भारतीय समसामयिक दर्शन के अन्तर्गत प्रमुखतः स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्री अरविन्द रानडे एवं राधाकृष्णन् का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त के. सी. भट्टाचार्या, मानवेन्द्र नाथ राय, मु. इकबाल, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, एवं सन्त विनोबा भावे आदि दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी समकालीन दर्शन को प्रभावित किया है। उपर्युक्त सभी दार्शनिकों के सिद्धान्तों के अध्ययन से यह मालूम पड़ता है कि उन सभी ने भारत की आध्यात्मिकता को उन्नति के शिखर पर लाने का अनवरत प्रयास किया है। यही कारण है कि आत्मानुभूति की संभावना उन्हें तत्वशास्त्र में निहित विचारों के

प्रकटीकरण के लिए विशेष सहायक सिद्ध हुई । इन दार्शनिकों ने अन्ततः ईश्वरानुभूति को चरम लक्ष्य बताते हुए वेदान्त की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की जिससे आत्मानुभूति अथवा रहस्यानुभूतिवादी दर्शन उभर कर पुनः विचारकों के सामने आया ।[1]

विवेकानन्द :– स्वामी विवेकानन्द भारतीय समकालीन दर्शन में एक ऐसे दार्शनिक हैं जिन्हें सर्वप्रथम नास्तिकता की ओर झुकना पड़ा । तदनन्तर स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं ने उनके भौतिकवादी नास्तिक विचारों को समूल उखाड़ फेंका, और उसकी जगह भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के मूलतत्व अर्थात् आध्यात्मिकता का बाना पहनाकर वेदान्त दर्शन की सत्यता के प्रति जागरूक किया । परिणामस्वरूप विवेकानन्द ने वेदान्तको एकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का अनवरत प्रयास प्रारम्भ किया और भारतीय दर्शन की प्राणस्वरूपिनी इसकी आध्यात्मिकता को पुनः एक बार विश्वदर्शन के मंच पर प्रस्तुत कर दिया ।

विवेकानन्दजी का तत्व दार्शनिक दृष्टिकोण बौद्धिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं था बल्कि आत्मानुभूति की प्रबल शक्ति में उनका दृढ विश्वास भी था । यद्यपि परमसत्ता के विषय में स्वामीजी अद्वैतमत का समर्थन करते हैं किन्तु सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति बताते हुए उन्होंने जगत् को पूर्णतः मिथ्या नहीं माना । वे विशुद्ध एकत्व को न मानकर बहुत्व में एकत्व का सिद्धान्त मानते हैं । बहुत्व में एकत्व का सिद्धान्त वेदान्त का मूलस्तम्भ है । सत्ता के सातत्य में रुचि प्रकट करते हुए स्वामीजी ने भौतिक चित्तीय, मानसिक, नैतिक एवं तात्विक सभी दृष्टियों से तत्व को एक और केवल एक बताया । मुख्यतः " एकमेवाद्वितीयम् " के माध्यम से विवेकानन्द ने इस विरोध को दूर किया कि परमसत्ता अनेक है । सत्ता की एकात्मता के संदर्भ में उन्होंने " सर्वं खलुइदं ब्रह्म " का कथन करते हुए जगत् को पूर्णतया सत्य बताया । जगत् के सम्बन्ध में स्वामी जी का तर्क है कि जव जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है तो वह मिथ्या कैसे हो सकती है ?

1– ब्रह्मसूत्र.....वादरायण 1/1/2

अभ्यास से ही सीखा जा सकता है उसी प्रकार सैद्धान्तिक ज्ञान चाहे वह कितना भी क्यों न हो आध्यात्मिक जीवन के अभ्यास का स्थान नहीं ले सकता। हम ईश्वर को ईश्वर तुल्य होकर ही जान सकते हैं। ईश्वर तुल्य होने का अर्थ है अपने भीतर के उस दिव्य केंद्र में सचेत रूप से लौटना। जहाँ कि बिना हम इस चीज के जाने हुए सदा रहे हैं और इस तरह अपने भीतर के प्रकाश से अवगत होना है।[76]

परब्रह्म का बोध केवल चेतना के सर्वोच्च प्रयत्न से ही होता है। अतः रानडे जी ने चेतना के परम स्तर अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक अनुभूति अथवा रहस्यानुभूति का आश्रय लिया। यह उनका सर्वथा सफल मार्ग रहा और स्वयं ही परम आनन्द की अनुभूति प्राप्त की।

उक्त मार्ग के विशद विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि परमतत्व परमानन्द ही है। वह ब्रह्म जिसकी अनुभूति हमें आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त होती है सर्वथा आनन्दमय है। इस प्रकार आनन्दवाद की प्रतिष्ठा हुई। रानडे ने अपने आनन्दवाद की व्याख्या सर्वजनहिताय के दृष्टिकोण से अत्यन्त सरल एवं सुगम मार्ग के द्वारा की है। इस संदर्भ में रानडे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह श्रेणी है जहाँ पहुँचकर एक आधुनिक आदर्शवादी तत्ववेत्ता के अनुकूल युद्ध भूमि, योद्धा और युद्ध का अन्तर मिट जाता है। उस एकत्व के स्वर्गीय संगीत का परम मींग, जिन शब्दों में हुआ है वे अन्य देशों के इसी प्रकार के आध्यात्मिक उद्गारों का स्मरण दिलाते हैं।[77]

ईश्वरानुभूति का महत्वपूर्ण तथ्य उपासना है। यह सूक्ष्म साधना का वह स्तर है जिसमें मनुष्य और भी ऊँचा उठकर अपने

76- उपनिषदों की भूमिका, डा राधाकृष्णन्, पृ. 103 अनु. रामानन्द शा.
77- उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण. ले. प्रो. रानडे एवं
अनु. रामानन्द तिवारी पृ. 231

काल क्रम में प्राचीन आदर्शों तथा मूल्यों पर हमारे तत्ववेत्ताओं एवं दार्शनिकों के मन में अविश्वास तथा सन्देह अवश्य उत्पन्न हुआ, किन्तु उन्होंने उस प्राचीन तथ्य को एक नये आयाम द्वारा समझने और प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया ।

वास्तव में समस्त दार्शनिक मतभेदों को समन्वित करने की शक्ति हो समकालीन दर्शन को सार्वभौमिक तथ्य प्रस्तुत करने में सहयोग देती है । यह शक्ति द्वन्द्वात्मक शक्ति से परे तथा बुद्धि द्वारा अग्राह्य चिन्तन की एक नयी विधा की जन्मदात्री है । अतः समसामयिक दर्शन ने व्यावहारिक पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयास अधिक किया क्योंकि सत्य की खोज या तत्वानुभूति बौद्धिक व्यायाम न होकर जीवन की अभिव्यक्ति है । उसे व्यावहारिक भूमि पर प्रकट करने के लिए समकालीन दार्शनिकों ने आत्मानुभूति द्वारा उस मार्ग को पुष्ट किया जो शताब्दियों वर्ष पूर्व वैदिक एवं औपनिषदिक ऋषियों के विचारों में निहित थी ।

वैदिक युग से अब तक भारतीय दर्शन में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है । इसका प्रमुख कारण था कि भारतीय दर्शन की प्राचीन मान्यता व आस्था प्राणशक्ति के रूप में सदैव विद्यमान रही, केवल आकारिक परिवर्तन का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है । भारतीय दर्शन के अन्तर्गत समसामयिक काल बहुत ही महत्वपूर्ण चरण है । इसका शुभारम्भ भारतीय पुनर्जागरण काल की अवधि में हुआ । समकालीन दर्शन के शुभारम्भ में राजनीतिक जागृति का विशेष योग दान है । उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के जिन आन्दोलनों ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, वे सैद्धान्तिक दृष्टि से तत्ववादी मध्ययुगीन तथा अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे । भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की रक्षा के लिए दार्शनिकों, विचारकों, एवं राजनयिकों ने एक समन्वित आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस नवजागरण का प्रथम चरण श्री राजा राममोहन राय की संरक्षता में प्रारम्भ हुआ । 1928 ई. में उन्होंने ब्रह्म समाज की

गुण, कर्म स्वभाव व दृष्टिकोण को परिष्कृत करता है। इसके द्वारा वह अपनी प्रसुप्त सामर्थ्यों को जगाता है। उस परब्रह्म के स्वरूप से तादात्म्य कैसे हो, इस विद्या का ही अष्टांगयोग की ध्यान नामक स्थिति विशेष में विवेचन किया जाता है। ब्राह्मी चेतना के इस विशाल सागर का स्वरूप इतना बड़ा है कि समीम बुद्धिवाले मानव के लिए उसको जानकारी प्राप्त कर सम्पर्क जोड़ पाना सम्भव नहीं। " नेति नेति " कहकर इसीलिए वेदान्तदर्शन में उसे अचिन्त्य, अनिर्वचनीय और अगम्य बताया गया है। रहस्यानुभूति में इन समस्त समस्याओं का निदान हो जाता है, ऐसी रानडे की मान्यता है। रानडे ने ईश्वरानुभूति के अन्तर्गत उपासना को महत्व इसीलिए अधिक दिया है।

उपासना मूलत: भाव विज्ञान की उच्चस्तरीय स्थिति है जिसमें मन:स्थिति के अनुरूप साधक को अपना माध्यम चुनना होता है। सतत् परिष्कृति एवं प्रगति के सोपानों पर चढ़ता हुआ साधक ऐसी स्थिति विशेष में जा पहुँचता है जहाँ उसे फिर किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। यही आत्मानुभूति अथवा परब्रह्म से साक्षात्कार का स्तर है। रानडे ने आत्मदर्शन द्वारा ही इसे संभव बताया। इस आत्मदर्शन को उन्होंने उपनिषद्कारों के " आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: " के संदर्भ में ग्रहण कर गीता के " उद्धरेत् आत्मनात्मानं " के संदर्भ में पुष्ट किया। उनके अनुसार यह आत्मदर्शन ही प्रकारान्तर से ईश्वरदर्शन है और इसी उपलब्धि को उन्होंने जीवन-मुक्ति भी कहा।

❖ ❖

छठा परिच्छेद

समकालीन दर्शन में रानडे का योगदान

सत्ता के अभिज्ञान के प्रति अनन्त जिज्ञासा भारतीय संस्कृति एवं दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है। निःसन्देह भारत वर्ष की आध्यात्मिकता इस मूल सत्य के साक्षात्कार में निरन्तर प्रयत्नशील रही तथा सृष्टि के रहस्य एवं मानवीय जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान समय समय पर प्रस्तुत करने में सफल रही। इसका प्रमुख माध्यम धर्म और दर्शन दोनों है। मुख्यतः इन दोनों का अपूर्व समन्वय वेदान्त दर्शन को अद्वैतभूमि पर सुस्पष्ट रूप में दिखायी पड़ता है। धर्म और दर्शन के तात्विक स्वरूप के कारण ही यह अव्यक्त और ससीम तत्व मानवीय चेतना की परिधि में आने में सफल हुआ। मानवीय चेतना में परम सत्ता के अवतरण के सन्दर्भ में दार्शनिकों एवं चिन्तकों में जिज्ञासा इतनी प्रबल रही कि समय समय पर दर्शन एवं धर्म में आन्दोलन सा उभरता रहा। इस आन्दोलन का प्रमुख कारण था कि पूर्ववर्ती विचारधारा उनकी जिज्ञासा को सन्तुष्ट नहीं कर पा रही थी।

भारत वर्ष में जितने भी आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के पीछे कोई न कोई दार्शनिक प्रेरणा अवश्य रही है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में पुनर्जागरण काल इसी प्रकार की दार्शनिक प्रेरणा एवं चिन्तन की देन है। इसका प्रमुख कारण था कि भारतवर्ष की धर्म एवं दर्शन के प्रति अपूर्व निष्ठा एवं इसकी रक्षा के प्रति जागरूकता सदैव विद्यमान रही। हजारों वर्षों विदेशियों की दासता में रहने के बावजूद भी इस देश की संस्कृति और दार्शनिक विचारधारा न टूट सकी अपितु उसने अपना अस्तित्व सदैव बनाये रखा।

स्थापना की। तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना करके इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया तथा मानव मात्र को 'वेदों की ओर लौटो' इस कथन द्वारा आह्वान किया।

इस समय समाज में जो कल्मष छाया हुआ था, उसके लिए विविध उपचार प्रक्रियायें प्रारम्भ हुईं, किन्तु रोग का वास्तविक निदान ये उत्साही समाज सुधारक पूर्ण रूपेण नहीं कर पाये। आवश्यकता थी इसके आन्तरिक उपचार की। इस कार्य का श्रीगणेश स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने किया। उन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त के ही "एकमेवाद्वितीयम्" महावाक्य पर आधारित एकेश्वरवाद की ओर प्रबुद्ध लोगों की आस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया। इस कार्य को उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने प्रभावित ढंग से आगे बढ़ाया। शंकराचार्य के समान विवेकानन्द भी परमसंकट की घडी में भारत-भूमि पर अवतीर्ण हुए। भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास में स्वामी विवेकानन्द को "नव्य वेदान्त" का जनक कहा जा सकता है। उन्होंने उपनिषदों को आधार मानकर वेदान्तदर्शनको उसके दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित नहीं रहने दिया वरन् उसके धार्मिक पक्षपर महत्व दिया। वेदान्त की अद्वैत-भूमि पर धर्म और दर्शन का मिलन होता है इस कथन को सार्थकता प्रदान करते हुए विवेकानन्द ने कहा कि वेदान्त में ईश्वर भक्ति का विषय तार्किक विश्लेषण का नहीं है। इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन में वेदान्त का वह सनातन आदर्श फिर से एक बार समग्र देश में आन्दोलित हुआ, लेकिन अब यह सामुदायिक विभेदों से मुक्त एक समन्वयात्मक प्रयास के रूप में प्रकाश में आया।

भारतीय समकालीन दर्शन में 'समन्वयवाद' इसकी प्रमुख विशेषता रही है। यह समन्वय एक ओर पूर्व और पश्चिम के दर्शन की एक साथ व्याख्या करता हैं तो दूसरी ओर प्राचीन भारतीय संस्कृति में व्याप्त विरोधों को दूर करने के लिए समन्वयवादी प्रवृत्ति का अनुकरण करता है। प्राचीन भारतीय दर्शन में भी मूलतः दो परम्पराओं

का दर्शन होता है। प्रथम आचार्य परम्परा और दूसरी है सन्त परम्परा। उद्भव की दृष्टि से संत परम्परा आचार्य परम्परा से पहले आती है। आचार्य परम्परा तो सन्त परम्परा की व्याख्या द्वारा उसकी ही अभिव्यक्ति करती है। भारतीय समसामयिक चिन्तन में दोनों बौद्धिक समस्याओं में उलझ जाते हैं। परिणामतः सन्त का आदर्श उसके लिए एक सुदूरवर्ती लक्ष्य ही रह जाता है। सन्त परम्परा ने प्रारंभ से ही तत्वानुभूति को सहज एवं अनिवार्य बनाने की चेष्टा की। यद्यपि समकालीन दार्शनिकों ने आगे चलकर इस पक्ष को सुदृढ़ बनाया फिर भी इसका निर्वाह सन्त परम्परा के आदर्श के रूप में न हो सका। आचार्य परम्परा का अस्तित्व भी कुछ दिनों में नष्ट होने लगा। परिणामस्वरूप उन आचार्यों के सिद्धान्तों पर पुनर्व्याख्या का क्रम चल पड़ा जिससे समसामयिक दर्शन के स्वरूप एवं उद्देश्य का निर्माण हुआ।

भारतीय समकालीन दर्शन के उद्भव का प्रमुख कारण वेदान्त दर्शन में व्याप्त मतभेद एवं उनकी अस्पष्ट अभिव्यक्ति प्रणाली है। वेदान्त दर्शन की पुनर्व्याख्या कर उसे यथार्थवादी भूमि पर ईश्वरानुभूति के रूपमें प्रस्तुत करना दार्शनिकों का लक्ष्य रहा। इन दार्शनिकों ने आत्मानुभूति को स्वतः प्रामाणिक मानते हुए जनसाधारण के लिए इसे सुलभ व बोधगम्य बताया। इसके पूर्व उसमें व्यावहारिक दृष्टिकोण का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति समकालीन दार्शनिकों ने की। समसामयिक काल में दार्शनिकों की तत्वान्वेषिणी दृष्टि ने मानवीय व्यक्तित्व के प्रत्येक पार्श्व के अंतराल में झांककर उत्कर्ष की संभावनाओं को पहिचाना और उन संभावनाओं के सर्वांगीण विकास की एक सुनिश्चित रूपरेखा भी प्रस्तुत की। इस अभिज्ञान के लिए आवश्यकता होती है तत्व का साक्षात्कार करने में सक्षम उस अन्तर्भेदिनी दृष्टि की, जो अनृत तथा अवास्तविकताओं के आवरण में छुपे हुए सत्य को अनावृत कर सकें तथा जिसके व्यक्त और अव्यक्त, अन्तर और बाह्य दो पार्श्व हैं और जिसके समन्वय के बिना जीवन में सत्य की अनुभूति संभव नहीं है।

मूलतः मानव की स्थूल चेतना उसे सांसारिक तथा दैहिक अनुभूतियों से बांधे रखती है और आध्यात्मिक चेतना उसे शारीरिक स्तर से ऊपर उठाकर अनुभूति के सत्य स्फूर्ति स्तर पर खींचने का प्रयत्न करती है। इन द्विविध प्रवृत्तियों के बीच समसामयिक दार्शनिक अपने को सन्तुलित न कर पाये। परिणामस्वरूप उन्होंने दर्शन को धर्म से समन्वित कर उसे एक सार्वभौमिक एवं निरपेक्ष प्रामाणिकता प्रदान की। अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों में सन्तुलन और सामन्जस्य स्थापित करना किसी शुष्क और औपचारिक सिद्धान्त का कार्य नहीं है। इसके लिए एक ऐसे भावनात्मक आधार की आवश्यकता हुई जिस पर उसकी विविध प्रवृत्तियों का केन्द्रीयकरण हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति समसामयिक दार्शनिकों की चिन्तनात्मक प्रणाली ने पूरी की। इन दार्शनिकों का विचार था कि यह सच है कि तार्किक उपलब्धियाँ व्यक्ति को बौद्धिक स्तर पर संतोष देती हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सत्य का यह बौद्धिक अभिज्ञान उसे व्यवहार में भी सत्य की अनुभूति करा सके। सत्य की वैचारिक गवेषणा व्यक्ति की बौद्धिक क्षमताओं का विनाश तो निश्चित करती है किन्तु उसकी समस्त वृत्तियों का वैसा संस्कार नहीं कर पाती जैसा धर्म के भाव संवेग करते हैं। समसामयिक दार्शनिकों ने बौद्धिक गवेषणा का विरोध नहीं किया बल्कि बौद्धिक गवेषणा की अपेक्षा चिन्तन को विशिष्ट महत्व दिया। इस चिन्तन को उन्होंने आत्मानुभूति, रहस्यानुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति दिव्यानुभूति आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया। --

समकालीन दर्शन का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसकी प्रक्रिया अनेकेश्वरवाद से एकेश्वरवाद की ओर है। इसके अन्तर्गत परमसत्ताको "एकमेवाद्वितीयम्" के माध्यम से स्पष्ट करते हुए पूर्ववर्ती वेदान्त दार्शनिकों के मतभेद को दूर करनेका प्रयत्न किया गया है। एकेश्वरवाद की स्थापना सर्वथा नवीन नहीं कही जा सकती क्योंकि इसका संकेत वेदान्त में मिलता है और समकालीन दर्शन के प्रादुर्भाव का मूलकेन्द्र होने के कारण वेदान्त का यह तथ्य चिन्तन की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

समकालीन दार्शनिकों ने वेद, उपनिषद् एवं गीता विषयक महत्व-पूर्ण तथ्यों की व्याख्या ही नहीं की बल्कि पाश्चात्य दर्शन जगत् को भारतीय दर्शन से एकीकृत भी कर दिया। पाश्चात्य दर्शन के भौतिक वादी एवं सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समन्वित करने का यह अभिनव प्रयास ही समकालीन दर्शन को विश्वदर्शन कहने का अवसर देता है। इसमें पूर्ववर्ती तथ्यों को मौलिक विचारों द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा निहित है। यद्यपि समकालीन दार्शनिकों ने किसी मौलिक दर्शन की स्थापना नहीं की फिर भी उन्होंने वेदान्त की जो पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की उसमें नवीनता का पुट दिखायी पड़ता है। इन दार्शनिकों के सामने प्रधान समस्या थी कि किस प्रकार परमतत्व की अनुभूति अथवा साक्षात्कार व्यावहारिक जीवन में संभव हो सकता है। इसके लिए वे धर्म एवं दर्शन दोनों का समान सहयोग स्वीकार करते हैं।

समकालीन दर्शन की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि यह शताब्दियों पूर्व के तथ्यों की पुनर्स्थापना का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह आन्तरिक संघर्ष का स्तर है। जिसमें दार्शनिकों ने अपने विचारों को स्पष्ट करनेका मौलिक प्रयास किया है। इन्होंने यह सिद्ध किया कि पूर्ववर्ती विचारधारा अथवा दर्शन पूर्णतः अवैज्ञानिक नहीं है जिसकी खोज हमें सदियों से प्रेरित करती आ रही है।

समकालीन दर्शन की दूसरी विशेषता है कि यह पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने का अपूर्व प्रयास है। इस महत्व-पूर्ण प्रयास के द्वारा भारतीय दर्शन को विश्वदर्शन कहे जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ क्योंकि इसमें पूर्व और पश्चिम दोनों दर्शन के सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है।

समसामयिक दर्शन की तीसरी विशेषता है कि इसके अन्तर्गत दर्शन आनन्द प्राप्ति का बौद्धिक प्रयास न होकर अपितु परमसत्ता के साक्षात्कार का आध्यात्मिक चिन्तन प्रधान प्रयास है जिसे रानडे ने '' आत्मानुभूति '' शब्द से अभिहित किया है।

समकालीन दर्शन की चौथी विशेषता है कि यह सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष को सत्ता के स्वरूप-ज्ञान में अधिक उपयुक्त पाता है। आत्मतत्व में ही बह्म तत्व की संभावना का यह अन्तः प्रयास दर्शन विधि की सर्वोत्कृष्ट एवं प्रामाणिक विधि है। इसके लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

पांचवीं विशेषता है कि समकालीन दार्शनिकों ने ईश्वरानुभूति को ही एक मात्र उद्देश्य बनाकर विविध मार्गों को समन्वित किया है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को समान रूप से स्वीकार करते हुए गीतादर्शन की मान्यता को अक्षुण्ण रखा। आत्मा की अनन्त शक्ति में उनका दृढ़ विश्वास है। अतः वे आत्मानुभूति प्रक्रिया द्वारा उस अदृश्य सत्ता के साक्षात्कार का सरल व सुबोध मार्ग स्वयं वरण करते हैं।

इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत तत्वशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, एवं मोक्ष के सिद्धान्तों का वेज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ है, केवल अस्पष्ट तथ्य ही इस संदर्भ में उपलब्ध है। समकालीन दार्शनिकों ने वैज्ञानिक विश्लेषण से तात्पर्य विशिष्ट चिन्तन के आयाम से लिया और इस अर्थ में दर्शन के प्रयोजन को पूरा किया। श्री विवेकानन्द, अरविन्द, रानडे एवं राधाकृष्णन् आदि दार्शनिकों ने अपने चिन्तन प्रधान उत्कर्षों से इस की असीम गहराई तक पहुँचने का अनवरत प्रयास किया।

भारतीय समसामयिक दर्शन के अन्तर्गत प्रमुखतः स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्री अरविन्द रानडे एवं राधाकृष्णन् का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त के. सी. भट्टाचार्या, मानवेन्द्र नाथ राय, मु. इकबाल, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, एवं सन्त विनोवा भावे आदि दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी समकालीन दर्शन को प्रभावित किया है। उपर्युक्त सभी दार्शनिकों के सिद्धान्तों के अध्ययन से यह मालूम पड़ता है कि उन सभी ने भारत की आध्यात्मिकता को उन्नति के शिखर पर लाने का अनवरत प्रयास किया है। यही कारण है कि आत्मानुभूति की संभावना उन्हें तत्वशास्त्र में निहित विचारों के

प्रकटीकरण के लिए विशेष सहायक सिद्ध हुई । इन दार्शनिकों ने अन्ततः ईश्वरानुभूति को चरम लक्ष्य बताते हुए वेदान्त की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की जिससे आत्मानुभूति अथवा रहस्यानुभूतिवादी दर्शन उभर कर पुनः विचारकों के सामने आया ।[1]

विवेकानन्द :– स्वामी विवेकानन्द भारतीय समकालीन दर्शन में एक ऐसे दार्शनिक हैं जिन्हें सर्वप्रथम नास्तिकता की ओर झुकना पड़ा । तदनन्तर स्वामी रामकृष्ण की शिक्षाओं ने उनके भौतिकवादी नास्तिक विचारों को समूल उखाड़ फेंका, और उसकी जगह भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के मूलतत्व अर्थात् आध्यात्मिकता का बाना पहनाकर वेदान्त दर्शन की सत्यता के प्रति जागरूक किया । परिणामस्वरूप विवेकानन्द ने वेदान्तको एकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का अनवरत प्रयास प्रारम्भ किया और भारतीय दर्शन की प्राणस्वरूपिनी इसकी आध्यात्मिकता को पुनः एक बार विश्वदर्शन के मंच पर प्रस्तुत कर दिया ।

विवेकानन्दजी का तत्व दार्शनिक दृष्टिकोण बौद्धिक ज्ञान तक ही सीमित नहीं था बल्कि आत्मानुभूति की प्रबल शक्ति में उनका दृढ विश्वास भी था । यद्यपि परमसत्ता के विषय में स्वामीजी अद्वैतमत का समर्थन करते हैं किन्तु सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति बताते हुए उन्होंने जगत् को पूर्णतः मिथ्या नहीं माना । वे विशुद्ध एकत्व को न मानकर बहुत्व में एकत्व का सिद्धान्त मानते हैं । बहुत्व में एकत्व का सिद्धान्त वेदान्त का मूलस्तम्भ है । सत्ता के सातत्य में रुचि प्रकट करते हुए स्वामीजी ने भौतिक चित्तीय, मानसिक, नैतिक एवं तात्विक सभी दृष्टियों से तत्व को एक और केवल एक बताया । मुख्यतः " एकमेवाद्वितीयम् " के माध्यम से विवेकानन्द ने इस विरोध को दूर किया कि परमसत्ता अनेक है । सत्ता की एकात्मता के संदर्भ में उन्होंने " सर्वं खलुइदं ब्रह्म " का कथन करते हुए जगत् को पूर्णतया सत्य बताया । जगत् के सम्बन्ध में स्वामी जी का तर्क है कि जब जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है तो वह मिथ्या कैसे हो सकती है ?

1– ब्रह्मसूत्र.....बादरायण 1/1/2

विवेकानन्द के अनुसार ईश्वरानुभूति के समय सृष्टिकर्ता एवं सृष्टि के बीच सभी प्रकार के सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। उस समय अभेद का ज्ञान होता है और यह अभेद-ज्ञान ही ईश्वरानुभूति है। ईश्वरानुभूतिका विश्लेषण भौतिक तथ्यों की भाँति प्रस्तुत नहीं हो सकता क्योंकि यह एक प्रकार की अनुभूति है। व्यावहारिक जीवन में हमें सृष्टि की सत्यता एवं असत्यता का भ्रम अवश्य होता है किन्तु आत्मानुभूति के पश्चात् उपर्युक्त भ्रम विनष्ट हो जाता है। इसकी प्रामाणिकता विवेकानन्द ने आनुभविक दृष्टि से पुष्ट की। शंकर के समान व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्यता के प्रमाण में स्वामीजी ने अद्वैत प्रणाली को स्वीकार नहीं किया किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से शंकर का ही अनुकरण किया है। स्वामीजी का मत है कि ईश्वर जो कि निरपेक्ष और एक मात्र सत्य है, वह ससीम कैसे हो जाता है ? " ज्ञानयोग " के अन्तर्गत उन्होंने एक रेखाचित्र के माध्यम से इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

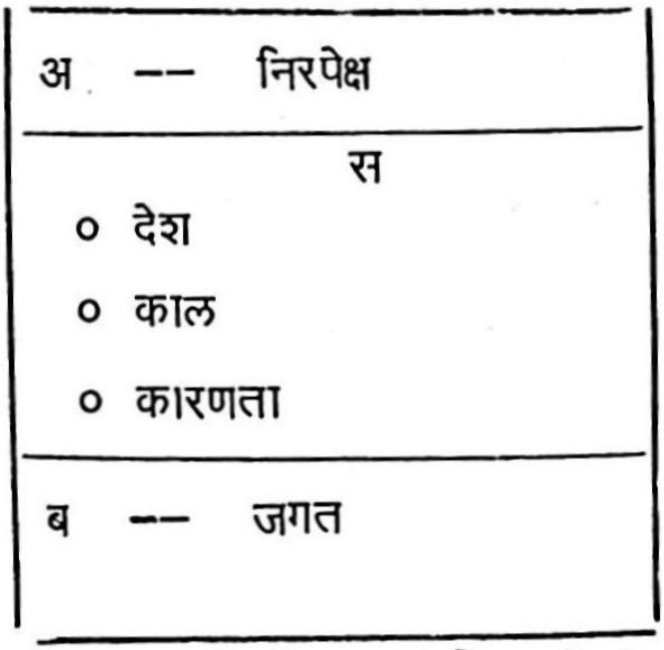

उपर्युक्त रेखाचित्र में ' अ ' निरपेक्ष एवं ' ब ' जगत् का संकेत प्रस्तुत करता है। निरपेक्ष ही जगत् के रूप में बताया गया है। जगत् का तात्पर्य भौतिक जगत् से नही बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक जगत् से है। मन तो एक प्रकार के परिवर्तन का नाम है और शरीर दूसरे प्रकार के परिवर्तन का। ये सभी परिवर्तन जगत् का निर्माण करते हैं। निरपेक्ष ही देशकाल एवं कारणता से गुजर कर जगत् के रूप में प्रकट होता है।

ईश्वर और जगत् की सापेक्षिक सत्ता में विश्वास प्रकट करते हुए स्वामी जी का कथन है कि ईश्वर जगत् का सूक्ष्म और विभु रूप है और जगत् ईश्वर का स्थूल रूप। ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति का

प्रश्न उन्होंने आत्मव्याधतक बताया। यह सोचना मात्र ही कि जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है, ईश्वर को विषयीकृत करना है। विषयी विषय नहीं हो सकता। देश काल एवं कारणता को उन्होंने सत्ता नहीं माना बल्कि जगत् की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में इन्हें ग्रहण किया।

ईश्वर क्या है ? इस परमजिज्ञासा की शान्ति हेतु स्वामीजी ने ब्रह्मसूत्र के कथन " जन्माद्यस्यतः। अर्थात् जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ईश्वर है, " को प्रस्तुत करते हुए कहा कि जो अनन्त, शुद्ध, नित्यमुक्त सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयास्वरूप, परमगुरु है और अनिर्वचनीय एवं प्रेम-स्वरूप है, वही ईश्वर है। ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों को समान रूप से ग्रहण करते हुए स्वामीजी ने इसको " एकमेवाद्वितीयम् " के कथन द्वारा समन्वित कर दिया। अतः उनकी यह विशिष्टता निर्गुण और सगुण के व्यापक भेद को समाप्त कर अभेद स्थापित करने में सक्षम सिद्ध हुई। स्वामीजी का कथन है, " ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है और इसी लिए भक्त ईश्वर के सगुण भाव को परमनियोक्ता ईश्वर मानकर उसकी उपासना करता है। " [2]

विवेकानन्द ने भारतीय दर्शन और चिन्तन की विविध प्रवृत्तियों को समन्वित करने का पूरी तत्परता से प्रयत्न किया। वे समस्त संसार को अपने ज्ञान–परिधि में लेना चाहते थे। उनका कथन है, " हम किसी को अस्वीकार नहीं करते --- न तो ईश्वरवादी और न नास्तिक को। हमारे धर्म में शिष्य बनने के लिए एक ही शर्त है। वह यह है, कि चरित्र का गठन इस तरह किया जाय कि वह एक साथ ही अत्यन्त व्यापक हो, और उसमें गहराई हो। "[3] विवेकानन्द प्रायः मानवतावादी विचार के पोषक थे। तत्वचिंतन को उतना महत्व पूर्ण नहीं मानते थे जितना कि मानव-कल्याण की संभावनाओं की खोजबीन को। तत्व-

---

2– भक्तियोग-- स्वामी विवेकानन्द : पृ. सं. 11

3– लेटर्स आफ् स्वामी विवेकानन्द : पृ. सं. 83

शास्त्र के चिंतन पर खोझ व्यक्त करते हुए उनका कथन है, "आत्मा है या नहीं, इसको किसे परवाह है? कोई अपरिवर्तनशील सत्ता है या नहीं? इसके बारे में किसे व्यग्रता है? हमारे सामने यह संसार है और यह दुःख और पीड़ाओं से भरा है। इस संसार में उतरो, जैसे बुद्ध उतरे थे और इन दुःख पीड़ाओं को कम करने के लिए संघर्ष करो।"[4]

समस्त दार्शनिकों का लक्ष्य है आत्मा की पूर्णता अर्थात् परब्रह्म से साक्षात्कार प्राप्त करना। विवेकानन्द ने इसे पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण कर जीवन का परम लक्ष्य माना। आत्मा बन्धनग्रस्त है, उसे मुक्त करके पूर्व स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।' इस विश्वास के साथ दार्शनिकों ने विभिन्न मार्ग निर्णीत किये। विवेकानन्द आत्मा को बन्धनग्रस्त नहीं मानते। उनके अनुसार स्वतन्त्रता आत्मा की प्रमुख विशेषता है। वे यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा के अमरत्व के विषय में पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना संभव नहीं है लेकिन इतना अनुभव अवश्य किया जा सकता है कि यह तर्क एक अवैज्ञानिक तर्कवाक्य नहीं है। इसके प्रमाण के लिए उन्होंने शब्द प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अमरत्व का अर्थ अमर्त्यशीलता बताया। मृत्यु आत्मा का अन्त नहीं है बल्कि आत्मा अजर और अमर है। उसे आत्मानुभूति द्वारा जरामरण से मुक्त किया जा सकता है। इस पूर्ण स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने योग की आवश्यकता पर विशेष बल दिया। उनके अनुसार लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों को मिलाकर योग की निष्पत्ति होती है। यही मोक्ष मार्ग है।

प्रश्न उठता है कि जरामरण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधन किसे बनाया जाय? इस पर विवेकानन्द जी का मत है कि बुद्धि की शक्ति इस उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णरूपेण सक्षम नहीं है। इसके लिए उन्होंने अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता समझी। बुद्धि और

4- प्रैक्टीकल वेदान्त-स्वामी विवेकानन्द

अन्तर्दृष्टि हमारे सामने नित्यता और कालहीनता को व्यक्त करती है जिसमें काल और इतिहास सम्मिलित हैं। सत्य इन्द्रियों एवं बुद्धि-ग्राह्य वास्तविकता के प्रतिबिम्ब नहीं है। यह आत्मा की अन्तरतम् सत्ता द्वारा अनुभूत सर्जनात्मक रहस्य है। इसमें यह अनुभूति सम्मिलित है कि गहराई में आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ द्रष्टा और दृश्य, एक हैं।[5]

बौद्धिक शक्ति की परीक्षा करते हुए उन्होंने बताया कि यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करने में केवल बुद्धि नहीं बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व काम करता है। अनुभव तात्कालिक सहज स्फूर्ति पर आधारित है और यह सहज स्फूर्ति तर्क और विवेक द्वारा समर्थित है। उनके अनुसार ज्ञान और विज्ञान साथ-साथ चलते हैं। अतः स्वामीजी इस तथ्य से पूर्ण निश्चिन्त थे कि अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मा की परिपूर्णता उपलब्ध हो सकती है। इसके लिए उन्होंने विभिन्न मार्गों का अनुसरण किया जो निम्नलिखित हैं।

प्रायः मनुष्य अपने कर्म के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है। कर्म ही पूजा है इस उद्देश्य की सार्थकता कर्मयोग के विधान से ही सिद्ध की जा सकती है। विवेकानन्द के अनुसार यह मार्ग कर्मप्रधान व्यक्ति का है। कर्मयोगी वही हो सकता है जो आसक्ति रहित और निःस्वार्थ भाववाला हो। कर्मयोगी का कर्म ही उसका स्वभाव होता है। विवेकानन्द का कथन है, " कर्मयोग निःस्वार्थता एवं सद्कार्यों के माध्यम से मुक्ति की एक नैतिकतापूर्ण एवं धार्मिक प्रणाली है। कर्मयोगी किसी सिद्धान्त विशेष में विश्वास की आवश्यकता नहीं समझता। वह यह नहीं पूछता कि उसकी आत्मा क्या है? उसे अपनी निःस्वार्थता की अनुभूति का विशिष्ट उद्देश्य प्राप्त करना है और उसे अपनी शक्ति से अधिक कार्यान्वित करना है।"[6]

5– सत्य की खोज– विवेकानन्द : पृ. सं. 100

6– कर्मयोग – स्वामी विवेकानंद : पृ. 131–32

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि कर्मयोगी सर्व प्रथम कर्म को महत्व देता है तत्पश्चात् अनासक्ति को। चूंकि कर्मफल में उसको कोई आसक्ति नहीं होती अतः वह बंधन ग्रस्त नहीं होता। विवेकानन्द का कर्मयोग गीता के समान ही निष्काम कर्म का सन्देश देता है। उनका कथन है, "वह अच्छा कार्य करता है जो बिना किसी प्रयोजन के न तो धन के लिए और न ख्याति के लिए ही कार्य करता है और जब व्यक्ति ऐसा करता है तब वह बुद्ध कहा जायेगा। उससे कर्मशक्ति का एक प्रवाह फूटेगा जो विश्व में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करेगा।"[7]

उनके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति या प्रेम के द्वारा होती है। साधारणतः भक्ति के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं। प्रथम बाह्य उपचार या कर्मकाण्ड। यह भक्ति का स्थूल स्तर है। द्वितीय में, प्रतीकों की अपेक्षा भावना का विशेष महत्व होता है। इसके अनुसार धर्म या भक्ति का अर्थ है आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता का ज्ञान। भक्ति की तृतीय अवस्था वह है जिसे पराभक्ति कहते हैं। इसमें समस्त प्रतीक तथा रूपाकार विलीन होकर रहस्यानुभूति की विविध प्रक्रियायें प्रस्तुत करता है। इसे वे 'पराविधा' भी कहते हैं।

भक्ति योग के साधन के सम्बन्ध में स्वामीजी ने रामानुज के इस कथन को कि भक्ति की उपलब्धि विवेक, दमन, अभ्यास, यज्ञादिक क्रियाओं की पवित्रता, बल और उल्लास के निरोध से होती है, पूर्ण सहमति प्रदान करते हुए खाद्य,—अखाद्य का विवेक रखना भक्ति की प्रथम आवश्यकता बतायी। दूसरे, इन्द्रियनिग्रह; तीसरे, आत्मसंयम तथा आत्मत्याग का अभ्यास आवश्यक बताते हुए ईश्वरानुभूति को सहज प्राप्त[8] बताया। स्वामीजी ने भक्तियोग का सबल साधन 'अवसाद'

7—कर्मयोग—स्वामी विवेकानंद, पृ॰ सं. 142–43

8—गीता, 9–35

बताया। श्रुतियों का कथन है कि निर्बल व्यक्ति द्वारा आत्मलाभ नहीं हो सकता।[9] उस निर्बलता में स्वामीजी ने शारीरिक और मानसिक दोनों निर्बलतायें शामिल की हैं।

भक्तियोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, " ईश्वर के प्रति सच्ची और वास्तविक खोज को भक्तियोग कहते हैं।"[10] भक्ति-योग के विकास एवं परिणाम का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने पुनः कहा, " मनुष्य के हृदय में जो भावनायें तथा वासनायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वयं दूषित नहीं हैं वरन् बात इतनी ही है कि उनका धीरे धीरे नियंत्रण करते हुए उन्हें शनैः शनैः उच्च ध्येय की ओर लगाते रहना चाहिए जब तक परमोच्च दशा की प्राप्ति न हो जाय।"[11]

विवेकानन्द का भक्तियोग विश्व प्रेम को समाहित करता है। उनके अनुसार बिना समष्टि को प्रेम किये व्यष्टि को प्रेम नहीं किया जा सकता। सब प्रेमों का समष्टि स्वरूप ईश्वर है तथा मुक्त, मुमुक्षु एवं बद्ध समस्त आत्माओं की आकांक्षाओं का समष्टि स्वरूप वहीं है तो किसी भी व्यक्ति में विश्व प्रेम की शक्ति उत्पन्न हो सकती है। दूसरे आत्मसमर्पण अथवा शरणागति व्यक्ति का मूलतत्व है। " प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण संसारकी समस्त सम्पत्ति, शक्ति, प्रतिष्ठा से भी श्रेष्ठ हैं। भक्त के चित्त की शान्ति जो भगवान की शरणागति से उत्पन्न होती है हमारी बुद्धि से अतीत तथा अमूल्य है।"[12]

विवेकानन्द के अनुसार भक्ति योग का प्रमुख ध्येय ईश्दर की प्रत्यक्षानुभूति है। साधनावस्था में अग्रसर होने के लिए क्रमशः बाह्य-साधनों की आवश्यकता होती है तथा ये साधक की आत्मा पर आरम्भिक अवस्थायें अपना प्रभाव डालकर उसे परमेश्वर की ओर अग्रसर होने में सहायता पहुँचाती हैं। " अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीवात्मा अपने

---

10 – भक्ति योग– विवेकानन्दः पृ. 1
11 – भक्ति योग– विवेकानन्दः पृ. 87
12 – भवितयोग– विवेकानन्दः पृ. 98

को अभिव्यक्त करने का सतत् प्रयत्न कर रही है फिर भी वह ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बध के प्रति सजग है। ज्ञाता को ज्ञेय रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न की असफलता के परिणाम स्वरूप जीवात्माको वैराग्य हो जाता है और उसे मुक्ति हो जाती है।"[13] सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना के परिणामस्वरूप भक्ति भी अपरा तथा परा[14] दो रूपों में विभक्त हो गयी है। किन्तु आत्मा का सर्वोच्च ज्ञेय रूप तो ईश्वर है। यदि भक्ति का यह अर्थ लिया जाय कि इसमें हम ईश्वर को सर्वोच्च ज्ञेय के रूप में जानने का प्रयत्न करते हैं तो इसमें मिथ्यात्व अवश्य शामिल होगा। भक्ति का वास्तविक स्वरूप है, आत्म-साक्षात्कार या आत्मानुभूति। इस प्रकार भक्तियोग ईश्वर–साक्षात्कार का सर्वाधिक सरल उपाय है। नारद सूत्र में भी इसी प्रकार का कथन मिलता है। "भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य रहता ही है परन्तु भक्ति स्वयं ही साध्य तथा साधनस्वरूपा है।"[15]

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है, इस महामन्त्र का ज्ञान ही वास्तव में ज्ञानयोग की पराकाष्ठा है। बाह्य तथा अन्तः प्रवृत्ति को वशीभूत कर आत्मा का यह ब्रह्मभाव व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यद्यपि विवेकानन्द ने सभी प्रकार के योगानुष्ठान को महत्व दिया था पर उनकी ज्ञानयोग के प्रति विशेष निष्ठा थी। योग को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हुए वे कहते हैं कि योग के विषय में यदि कोई गुप्त या रहस्यमय बात हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। रहस्य, व्यापार मानवीय मष्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसने योग को जो कभी एक उच्चतम विज्ञान था, बिल्कुल नष्ट कर दिया।

स्वामी विवेकानन्द की धर्म में पूर्ण आस्था थी। वे बुद्धि को धर्म का आवश्यक तथ्य बताते हुए कहते हैं, "बुद्धि का अनुसरण करते हुए

---

13 – समकालीन भारतीय दर्शन– लक्ष्मी सक्सेना: पृ. 79

14 – भक्ति योग-विवेकानन्द, 98

15– नारदसूत्र, 25, 30, वाँ सूत्र,

मानवमात्र को नास्तिक होना अच्छा है, पर किसी व्यक्ति के प्राधिकार के आधार पर अंधविश्वास के रूप में करोडों देवताओं में विश्वास करना अच्छा नहीं है। मनुष्य का महत्व इसी बात में है कि वह चिंतनशील प्राणी है।"[17]

स्वामी विवेकानन्दने समस्त ज्ञान को स्वानुभूतिजन्य बताया। " आनुमानिक सामान्य से विशेष ज्ञानों की बुनियाद स्वानुभूति है। " इसे स्वामीजीने निश्चित विज्ञान के अर्थ में ग्रहण किया। विवेकानन्द का कथन है, " प्रत्येक निश्चित विज्ञान की एक साधारण चित्तभूमि है, उससे जो सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं कोई भी, इच्छा करने पर उनका सत्यासत्य तत्काल समझ सकता है।"[18] इन समस्त चिंतन और विचारों का फल राजयोग विद्या है। राजयोग अष्टांग युक्त है। इन्हें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि कहते हैं। इस प्रकार यह मन और शरीर को संयमित कर परमसाक्षात्कार का सर्व सुलभ मार्ग प्रस्तुत करता है। यह ज्ञान योगियों द्वारा कथित संयम से भिन्न है क्योंकि इसका सम्बन्ध शरीर और मन से है। विवेकानंद का कथन है कि पूर्ण साक्षात्कार तब तक संभव नहीं हो पायेगा जब तक शारीरिक क्रियाओं एवं आचरणों में विशुद्धता नहीं आयेगी। इस अनुशासन का वर्णन उन्होंने अपनी राजयोग नामक पुस्तक में विधिवत् किया है। श्री बसन्त कुमार लाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है,

Vivekanand is aware that his method is not for the weak, as it requires an immenense faith in oneself and also Physical and mental strength. It gradually enables the yogi to acquire certain excellences and powers and finally the Yogi is able to practise complete concentration leading to the realisation of unity with the Divine.[19]

17– ज्ञानयोग पर निबन्ध, स्वामी विवेकानन्द : पृ. 38

18– राजयोग– विवेकानन्द– पृ. सं. 3

19– कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी, श्री के. लाल : पृ. सं. 36

यद्यपि स्वामी विवेकानन्दने उपर्युक्त चारों मार्गों का वर्णन अलग-अलग किया है फिर भी वे चारों के महत्व को समान रूप से स्वीकार करते हैं। चारों मार्गों का अलग-अलग उल्लेख इसलिए हुआ कि सभी व्यक्तियों की भावनायें, मानसिकता एवं शक्तियां एक जैसी नहीं होतीं। अतः प्रधानता जिसकी हो उसी पूर्णता की ओर अग्रसर होने का निर्देश स्वामीजी के दर्शन सिद्धान्तों में प्राप्त होता है। स्वामीजी का कहना है कि भक्तियोगी को ज्ञानमार्ग पर चलने की आवश्यकता है क्योंकि भक्ति ही उसे पूर्णता नहीं प्रदान कर सकती। ज्ञान-मार्ग व कर्ममार्ग दोनों के सहयोग से भक्तिमार्ग सुदृढ हो जाता है। विभिन्न मार्गों को स्वीकार करते हुए अन्ततः उन्होंने आत्मा की अनन्त शक्ति के प्रति अटूट विश्वास प्रकट किया। यह उनकी आध्यात्मिक परिपूर्णता का स्वतः प्रमाणित एवं अनुभूतिजन्य मार्ग था जिसके सहयोग से परम सत्ता के साक्षात्कार में उन्हें सहायता मिली।

श्री अरविन्द :- स्वामी विवेकानन्द के पश्चात् भारतीय सम-सामयिक दर्शन का विकास महर्षि अरविन्द के संरक्षण में उत्तरोत्तर आगे बढ़ा। इनके व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता है इनका गंभीर चिंतन और स्पष्ट लेखन। उनकी रचनायें एक प्रकार से उनके मानसिक व्यक्तिमत्व की सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। उनकी प्रतिभा का सर्वतोमुखी स्वरूप, उनकी बुद्धि की भेदन शक्ति, उनकी असाधारण अभिव्यक्ति क्षमता, उनकी उत्कट निष्ठा, उनकी उद्देश्य एकांतिकता-इन सब का सहज अनुभव उनकी कृतियों के किसी भी पाठक को होगा। डा. ए. सी. भट्टाचार्य अरविन्द का दार्शनिक परिचय व्यक्त करते हुए कहते हैं, "भारत के स्वतन्त्रता यज्ञके ऋत्विक आचार्य यदि स्वामी विवेकानन्द को कहा जाय तथा मंत्र द्रष्टाऋषि बंकिम को कहा जाय तो निःसन्देह रूप से श्री अरविन्द उस यज्ञानुष्ठान के प्रमुख पुरोधा कहे जायेंगे।"[20]

श्री अरविन्द बीसवीं शती के एक महान योगी तथा दार्शनिक हैं। उनके अनुसार विश्व में नित्य एक दिव्य विकास जारी है। इसे वे भौतिक या प्राकृतिक विकास न कहकर ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म के लिए ब्रह्म का

20- श्री अरविन्द दर्शन- ए. सी. भट्टाचार्य : पृ. 17

विकास मानते हैं। एक मात्र ब्रह्म की सत्ता मानकर उन्होंने भी नव्यवेदान्त की परम्परा से अपने को जोड़ रखा था। यद्यपि उन्होंने मायावाद का खण्डन कर माया को ब्रह्म की शक्ति माना है फिर भी उनका ब्रह्म सचल है। वह जगत की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है क्योंकि ब्रह्म के दिव्य विकास के अन्तर्गत उन्होंने आरोह और अवरोह· इन दो गतियों का संकेत दिया। ब्रह्म अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए इन्हीं दोनों गतियों में चक्राकार रूप में घूमता है। अवरोह के प्रमुख चार स्तर अर्थात् जड़तत्व, जीवतत्व तथा मानसतत्व हैं। मानस तत्व के सबसे ऊपर अतिमानस है।

जगत् सृष्टि से उनका तात्पर्य था कि सबसे पहले ब्रह्म अतिमानस में अवतरित होता है फिर अतिमानस मानस में अवतरित होता है। तब मानस जीवन में अवतरित होता है और अन्त में जीव जड़ में अवतरित हो जाता है। अरविन्द का मत है कि जड़तत्व में भी अतिमानस अन्त र्व्याप्त है।

अतिमानस और ब्रह्म का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए अरविन्द नें वेदान्त के कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म का अनुकरण किया। अवरोह के बाद ब्रह्म का आरोह प्रारम्भ होता है। यह आरोह विकास है। यह जड़ का जीव में विकास प्रस्तुत करता है। अभी तक विश्व का विकास मानव स्तर तक ही पहुँचा है अब इसे अतिमानस की ओर बढ़ना है। अरविन्द ने अपने दर्शन में अतिमानस के स्तर एवं उसके स्वरूप का विधिवत् वर्णन किया है। अरविन्द आधुनिक वैज्ञानिकों की इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि जड़ से प्राण तत्व उत्पन्न हुआ और प्राणतत्व से मानस तत्व। वे इसके आगे यह भी मानते हैं कि ठीक इसी प्रकार मानस तत्व से अतिमानस तत्व प्रकट होगा। श्री अरविन्द का विकासवाद अन्य वैज्ञानिकों की भांति भौतिक विकासवाद नहीं है। यह आध्यात्मिक विकास है क्योंकि इसमें ब्रह्म अन्तर्निहित है।

श्री अरविन्द ने अपने पूर्ण योग के द्वारा प्रकृति को अतिमानस के स्तर तक उठाने का प्रयास किया। यह उनका सर्व मुक्ति का

सिद्धान्त है। श्री अरविन्द के दर्शन की सबसे बडी विशेषता थी कि वे अद्वैत सत्ता में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार आत्मा में अनन्त शक्ति है जिसके द्वारा हम ब्रह्म का ज्ञान तथा तादात्म्यता ग्रहण कर सकते हैं। इसके लिए उन्होंने '' स्वानुभूति '' द्वारा अतिमानस के स्तर तर पहुँचने का कथन किया। चूंकि अरविन्द का आत्मा की अनन्त शक्ति में दृढ़ विश्वास था अतः स्वानुभूति प्रक्रिया द्वारा उन्होंने अपने दर्शन को आध्यात्मिक विकासवाद के स्तर तक जाने का प्रयास किया।

श्री अरविन्द का दर्शन बौद्धिक तर्कों पर नहीं बल्कि योग की व्यावहारिक अनुभूति तथा यौगिक प्रकाश पर आधारित है। श्री अरविन्द ने मानसिक ज्ञान से परे अतिमानसिक ज्ञान को स्वीकार किया तथा स्वानुभूति का तात्पर्य उन्होंने उस ज्ञान से लिया जो मानसिक या बौद्धिक ज्ञान से परे हो। चूँकि अरविंद ने अतिमानसिक ज्ञान को स्वीकार किया है। अतः उनका दर्शन स्वानुभूतिमूलक[21] है।

वैदिक परम्परा का समर्थन करते हुए उन्होंने उच्चतर मानसिक ज्ञान का मानसिक बौद्धिक ज्ञान से सम्बन्ध व्यक्त किया है। उनके शब्दों में- '' वस्तुतः मनस् अतिमानस का एक पतन है, इसलिए इसका फिर उसमें उत्थान अवश्यम्भावी है, जिससे यह पतित हुआ था।''[22] अतिमानसिक स्तर पर चित्-शक्ति अविभाजित रहती है परन्तु मानसिक स्तर पर वह ऐकान्तिक एकाग्रता से आत्मसंलग्न हो जाती है। श्री अरविन्द बौद्धिक या मानसिक ज्ञान को परमसत्ता के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त नहीं मानते। वे बौद्धिक ज्ञान से परे जाकर अतिमानसिक ज्ञान कों प्राप्त करना ही सच्चा साक्षात्कार मानते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं, '' यदि बुद्धि हमारे लिए सर्वोच्च सम्भव ज्ञान का साधन हो और अतिभौतिक सत्य तक पहुँचने का और दूसरा कोई साधन न हो तो हमारी अन्तिम अभिवृत्ति एक व्यापक तथा बुद्धि-

---

21- श्री अरविन्द दर्शन---डा. ए. सी. भट्टाचार्य, पृ. सं. 161

22- एन इन्ट्राडक्सन टु द फिलासफी आफ् श्री अरविन्द-एस.के. मैत्र, पृ.सं. 32

सम्मत अज्ञेयवाद का होना अवश्यम्भावी है। सृष्टि की वस्तुएं कुछ अंशों तक जानी जा सकती हैं परन्तु परमतत्व और मनस् के परे सभी कुछ हमेशा के लिए अवश्य भी अज्ञेय रह जायेगा।''[23] श्री अरविन्द के मतानुसार ससीम बुद्धि असीम सत्ता को धारण नहीं कर सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अरविन्द बुद्धि विरोधी थे। परमसत्ता के साक्षात्कार के संदर्भ में उन्होंने बुद्धि को ससीम अवश्य कह दिया तथापि उसका विकल्प उन्होंने '' स्वानुभूति '' द्वारा प्रस्तुत किया।

श्री अरविन्द के अनुसार स्वानुभूति उच्चतर ज्ञान का तीसरा सोपान है। स्वानुभूति से उपलब्ध अतिमानसिक सत्य की झलकों की तुलना अरविन्द ने कठोपनिषद् के शब्दों में की है। उनका कथन है, '' स्वानुभूति हमेशा ही एक उच्चतर प्रकाश की धार, झलक या बाहरी किनारा जैसा है। हमारे अन्दर यह एक प्रक्षेपित क्षुर या धार या दूरवर्ती अतिमानसिक प्रकाश का विन्दु है।''[24] स्वानुभूति और अतिमानस के बीच अधिमानस का स्तर स्वीकार करते हुए अरविन्द ने इसे अज्ञान का जनक कहा है। सर्वात्मक चैतन्य तक पहुँचने का यह मार्ग है। अधिमानस को उन्होंने वह चेतन सर्वगत मनस् कहा जो अतिमानसिक सत्यचेतना के साथ साक्षात् सम्वन्ध रखता है। अधिमानस् पूर्ण एकीकरण की क्षमता नहीं रखता।

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानस में सत्, चित् और आनन्द की जो अविभाज्य एकता है वह अधिमानस में नष्ट हो जाती है और यह अधिक से अधिक '' प्रतीयमान विभेदों को समन्वयात्मक दृष्टि से एकत्रित करके देख सकती है ''[25] इस लिए अतिमानसिक चेतना को ही अरविन्द ने सर्वोच्च ज्ञान माना। इसका आविर्भाव तभी सम्भव है जब कि वह ऊपर से और साथ ही अन्दर से प्रकाशित होती है। स्वानुभूति

23- श्री अरविन्द-- रिडिल आफ् द वर्ड, पृ. सं. 25-26
24- श्री अरविन्द: द लाइफ डिवाइन, 11 पृ. सं. 1126
25- श्री अरविन्द: द लाइफ डिवाइन, 1 पृ. सं. 336

जिस सत्य को क्षणिक झलकों से प्राप्त करती है वही शक्ति प्रदीप्त मनस् में दृश्य रूपों में और उच्चतर मनस् में ज्योतिर्मय विचारों में प्रकट होती है। श्री अरविन्द का मत है कि अतिमानस चैतन्य को प्राप्त करने के लिए हमारे हृदय के अन्तस्तलमें स्थित इस अवगूढ आन्तरिक आधार को भी विकसित करना परम आवश्यक है। इसे वे "चैत्यपुरुष" कहते हैं।

अतिमानस ब्रह्म से आत्मविस्तार कैसे होता है? इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने अतिमानस को ब्रह्म का विशाल आत्मप्रसारण बताया। प्रसारण देश और काल का सूचक है। जब यह वस्तुनिष्ठ रहता है तब उसे देश कहते हैं किन्तु जब आत्मनिष्ठ होता है तब काल। दोनों अतिमानस के दो पक्ष हैं। अतिमानस देश और काल को धारण करता है न कि उनसे धृत है। इसलिए वह शाश्वत देश और शाश्वत काल को देख सकता है एवं दैशिक विभाजनों और कालिक क्रमिकताओं को एकीभूत कर सकता है।[26]

अतिमानस की सर्जना शक्ति को अरविन्द 'दिव्य माया' कहते हैं। इसी के द्वारा वे वैविध्य के आविर्भाव को संभव मानते हैं। दूसरे शब्दों में इस माया द्वारा ब्रह्म विश्व रूप में प्रक्षेपित होता है। अतएव विश्व के अधिष्ठान के रूप में वे एक ऐसे सत् को स्वीकार करते हैं जो निर्विशेष परमसत् न होकर इस विशेष अर्थ में सविशेष है कि वह एक मूल आत्म-एकाग्रता[27] है। यह वैविध्य को अपने में अन्तर्निहित किए हुए है। कालान्तर में उसे अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार उसमें विकास की अभिव्यक्ति की और अपने में सब कुछ समेट लेने की दोनों की शक्तियां विद्यमान हैं।[28]

अरविन्द के पूर्णयोग का तात्पर्य उनके आध्यात्मयोग या अधिमानसकीय योग से है। उनका मत है कि इस योग में व्यक्ति के

26- श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, 1, पृ. सं. 159
27- श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ. सं. 119
28- श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ. सं. 120

सर्वांगीण विकास पर अर्थात् सभी शक्तियों एवं पक्षों के एकसाथ विकसित होने पर बल दिया जाता है। जड़, जीवन तथा मानस एकांतिक रूप से इन सभी के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हो सकती है। श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों में एक सामंजस्यपूर्ण समन्वय प्रस्तुत करता है। इसका लक्ष्य वे ब्रह्म में लीन हो जाना नहीं मानते बल्कि वह पृथ्वी पर ही रोग, शोक, जरामरण से मुक्त अमृतमय दिव्य जीवन को विकसित करने के प्रयास को समाहित करता है। इस प्रयास में वे धर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं राजयोग सभी की अनिवार्यता पर बल देते हैं। इन सभी मार्गों को वे वैदिक कहते हैं। श्री अरविन्द इस बात को स्वीकार करते हैं कि ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म में से किसी एक मार्ग पर योग अन्तःकरण से चलने पर अन्त में अन्य दो का भी लाभ हो जाता है। सर्वांगीण योग की न तो कोई निर्धारित विधि है और न कोई घिसा पिटा अनुशासन का नियम ही है। यह स्वतः स्फूर्त आत्म-स्फुटन का परिणाम है।

श्री अरविन्द परमसत्ता के दो स्वरूप मानते हैं। अपने प्रथम रूप में वह विशुद्ध सत् है -- "परात्पर ब्रह्म है और प्रज्ञा की किन्हीं कोटियों के द्वारा व्यंजित नहीं हो सकता।"[29] दूसरे स्वरूप के रूप में उन्होंने परात्पर पुरुष का कथन व्यक्त किया जिसमें मूलतः सर्जना की प्रवृत्ति विद्यमान है। ब्रह्म के इसी स्वरूप को उन्होंने अतिमानस भी कहा है। श्री अरविन्द ने अतिमानस से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की। एक मात्र सत्य ब्रह्म से नानात्मक जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए अरविन्द का कहना है, "ब्रह्म अपने आपको चेतना के अनेक क्रमागत रूपों में प्रकट करता है। ये रूप सत्ता में सहवर्ती या काल के अन्दर समकालीन रहते हुए भी अपने सम्बन्ध में क्रमागत रहते हैं और जीवन को भी आत्मोन्मीलन करते हुए अपने आपकी सत्ता के चिरनवीन प्रदेशों में ऊपर उठते जाना होगा।"[30]

29- अरविन्द बर्थ सेंटेनरी - लाइब्रेरी पांडिचेरी, वाल्यूम 17 पृ. सं. 65
30- दिव्य जीवन 1 — श्री अरविन्द, पृ. सं. 44

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि श्री अरविन्द प्रतीकात्मक तथ्यों की उपयोगिता का बहुत अधिक महत्व बताते हैं। यह मार्ग एक प्रकार से सगुण से निर्गुण की ओर जाने का है। रानडे पूर्णरूपेण इस विचार से सहमत दिखायी पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने भी सगुण के माध्यम से निर्गुण ईश्वर की प्राप्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे परम सत् को " नेति नेति " पद्धति से ज्ञात अवश्य बताते हैं किन्तु वे उसे सर्वथा अज्ञेय नहीं कहते। वे उसे अपने लिए स्वप्रकाश मानते हैं। उनका कथन है, " ये सत्य हमारे धारणात्मक संबोध के सामने ऐसे मूलभूत पहलुओं की तरह आते हैं जिनमें हम सर्वगत सद्वस्तु को देखते और अनुभव करते हैं। उनका स्वरूप बौद्धिक ज्ञान के द्वारा नहीं वरन् एक आध्यात्मिक संबोधि के द्वारा हमारी चेतना के स्वरूप धातु में होने वाली एक आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा ही हमारी सीधी पकड़ में आता है।"[31]

अरविन्द एवं रानडे का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए देशपाण्डे का कथन है— " All these saints were guided by direct spiritual experience and endowed with scientific intellect. They all preached what they had actually practised and experienced. There was preceuving faith, not a blind belief. In the same way, scientific intellect was the basis for Their Spiritual experience."[32]

डॉ. राधाकृष्णन् :— भारतीय समकालीन दर्शन के अन्तर्गत राधाकृष्णन् " धार्मिक अध्यात्मवाद के प्रबल समर्थक के रूप में आजीवन वेदान्त दर्शन के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करते रहे। उनके अनुसार मानव जीवन का और अन्ततः विश्व का तात्विक स्वरूप सर्जनात्मक अनुभूतियों में और विशेष रूप से धार्मिक अनुभूति में अत्य-

---

31— श्री अरविन्द: दिव्य जीवन, प्रथम, पृ. 32

32— रानडेज् लाइफ आफ् लाइट, एम्. एस्. देशपाण्डे

धिक स्पष्ट रूप में व्यंजित होता है। यही कारण है कि उन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों दार्शनिक विचारधाराओं को आत्मसात् करते हुए दोनों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया।

डा. राधाकृष्णन् की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता है कि उन्होंने दशन को जीवन से सम्बद्ध करने का अनवरत प्रयास किया। अपने लेख " प्रकृतिवाद की समीक्षा " में उनके दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बर्नार्ड फिलिप्स का मत है कि उनके अध्यात्मवाद में जीवन शैली का एक अस्तित्ववादी पूर्वाभिमुखीकरण है। वस्तुतः राधाकृष्णन् उपनिषदीय दर्शन को सर्वथा प्रामाणिक व ईश्वर साक्षात्कारोन्मुख मानते हैं। सम्पूर्ण उपनिषदीय दर्शन की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत कर उन्होंने ईश्वरानुभूति की समस्या को उपनिषदीय दशंन के माध्यम से ही सुलझाने का प्रयत्न किया। डा. राधाकृष्णन का कथन है, " ईश्वर केवल अनुभवातीत अन्य दिव्य तत्व नहीं है बल्कि विश्यव्यापी आत्मा भी है, जो मनुष्य के व्यक्तितत्व और उसकी नित्य नवीन जीवनी शक्ति का आधार है। "[33] उनके अनुसार विश्व का आदितत्व ब्रह्म मनुष्य की आन्तरिक आत्मा द्वारा जाना जाता है। " वस्तुतः यह समस्त जगत् ब्रह्म है " और यह कि हृदय के अन्दर जो यह मेरी आत्मा है, वह ब्रह्म है।

राधाकृष्णन् अन्य समसामयिक दार्शनिकों की भाँति धार्मिक अनुभूति द्वारा परमतत्व के ज्ञान पर विश्वास करते हैं। उनका कथन है, " जो वास्तव में धार्मिक हैं वे आत्मा की सहज गहराइयों से प्रेरित होकर जीवन व्यतीत करते है, उनकी सहज उपलब्धियाँ विश्व के पुनर्निर्माण की आकांक्षा से नियंत्रित नहीं होतीं। उनकी आस्था मूलतः जीवन का अतिक्रमण करनेवाली हैं और फलतः जीवन को रूपान्तरित भी करने वाली है। "[34]

33- राधाकृष्णन्– उपनिषदों की भूमिका– पृ. सं. 78

34– राधाकृष्णन्–– आइडियलिस्ट व्यू आफ् लाइफ, पृ. सं. 52

आधुनिक चिंतन द्वारा प्रस्तुत कतिपय विकल्पों की अपर्याप्तता को सिद्ध करने के पश्चात् राधाकृष्णन् धर्म की, धार्मिक अनुभूति की महत्ता का कथन करते हैं। इन्होंने धार्मिक अनुभूति को चेतना से निम्न एक समग्र अनुभूति के रूप में स्वीकार किया। चूंकि यह सत्य से सहज तादात्म्य की स्थिति है। अतः यह स्वतः सिद्ध, स्वसंवेद्य तथा स्वप्रकाश है। परमसत् का स्वरूप एक ही है किन्तु अपनी मनःस्थिति एवं संस्कारों के अनुरूप विविध रूपों में उसे प्रस्तुत किया जाता है। जीवन के रहस्यपूर्ण पक्ष को स्वीकार करते हुए भी "अज्ञेयवाद" उसे अज्ञेय ही मानता है। इससे यह समस्या उत्पन्न होती है कि यदि सत्ता के अस्तित्व को दुर्बोध और अचिन्त्य स्वीकार किया जाय तो क्या यह उचित है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए डा. राधाकृष्णन् वेदान्त दर्शन की पुनर्व्याख्या की ओर उन्मुख हुए। उनका मत है कि बोध के किसी सामान्य से भिन्न आयाम में उसका साक्षात्कार संभव है। इसके लिए उन्होंने धार्मिक अनुभूति का आश्रय लिया। बुद्धि के स्तर पर जिसे एक "अभ्युपगम" के रूप में स्वीकार करते हैं अनुभूति के पश्चात् उसके अस्तित्व के विषय में विश्वास नहीं रख पाता।

भारतीय दर्शन शास्त्र के विवेचन में राधाकृष्णन् ने पारम्परिक भारतीय दृष्टिकोण ही अपनाया है। भारतीय दर्शन में दृश् का अर्थ है देखना। एतदनुसार दर्शन का आधार चिन्तन है, किन्तु इस चिन्तन में प्रशिक्षण एवं अनुभव की आवश्यकता है। राधाकृष्णन् का विचार है कि यह ग्रहण शक्ति, विचारणा अथवा अन्तर्दृष्टि है। ..... "कुछ प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक दार्शनिक जब तक स्थिरता नहीं प्राप्त करता तब तक वह संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों का अवलोकन नहीं कर पाता। इसके लिए अन्तर्दृष्टि जो कि और उसे विभिन्न प्रकार के अनुभवों की व्याख्या करने योग्य बनाती है, की आवश्यकता है।"[35] पुनः वे कहते हैं कि "यह

35- एन आइडियलिस्ट व्यू आफ् लाइफ: राधाकृष्णन्, पृ. सं. 15–16

एक मानवीय प्रयास है कि वह ब्रह्मांड की समस्या को समाहित कर सत् की प्रकृति का निर्धारण करे । "[36]

राधाकृष्णन् धर्म को ईश्वरोन्मुख बताते हैं क्योंकि " धर्म " शब्द में एकता की भावना निहित है । समस्त धर्मों में इसी परमतत्व की उपासना विभिन्न मार्गों से होती है । राधाकृष्णन् परमतत्व को सर्वोच्च आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अद्वैतमत का समर्थन करते हैं, किन्तु ईश्वर को आराधना का विषय मानकर अद्वैतमत से आगे भी बढ़ जाते हैं । ब्रह्म को ही एक मात्र सत्ता घोषित कर उसे निर्गुण, निरंकार, निर्वैयक्तिक सत्ता बताया । ईश्वर, धर्म, जगत् आदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य हैं किन्तु ईश्वर और जगत् दोनों व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं । जहां तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है वहां तक राधाकृष्णन् ईश्वर को आराधना का विषय मानते हैं । उनके मतानुसार ब्रह्म की प्राप्ति में ईश्वर सोपान का काम करता है ।

उपर्युक्त आध्यात्मिक अनुभूति का अध्ययन राधाकृष्णन् ने " योगशास्त्र की भूमिका " से प्रारम्भ किया जिसमें ब्रह्मविद्या अर्थात् आध्यात्मिक अनुभूति के बाद भक्ति व ध्यान अथवा योग आदि का मार्ग ग्रहण करना पड़ता है । इस अनुभूति के माध्यम से डा. राधाकृष्णन् ने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन की संभावना को और अधिक पुष्ट किया । उनका कथन है, " वस्तुतः सत्य में हमारी एक अन्तर्दृष्टि होती है । जब हमें वस्तु सत्य की वह अन्तर्दृष्टि मिलती है तो ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने तार्किक विवेचन अपर्याप्त, अवरोधक और अपूर्ण लगने लगते हैं इसलिए जो व्यक्ति धर्म को सत्य की अभिव्यक्ति ईश्वर के साक्षात्कार के रूप में मानते हैं वे कभी भी ईश्वर के नामों को लेकर झगड़ा नहीं करेंगे । "[37]

36– द फिलासफी आफ् रवीन्द्रनाथ टैगोरः राधाकृष्णन्, पृ. सं. 101

37– हमारी विरासतः डा. राधाकृष्णन्, पृ. सं. 34

ईश्वरानुभूति के संदर्भ में जिन मार्गों से गुजरना पड़ता है उनमें भक्ति मार्ग प्रमुख है। डा. राधाकृष्णन् भक्तिमार्ग को ईश्वरानुभूति का सशक्त माध्यम मानते है। उनका कथन है, "यह ईश्वर के प्रति भक्ति रखने एवं उसकी इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर देने का कार्य है। आत्मिक जीवन का मुख्य केन्द्र हृदय है। आन्तरिक प्रार्थना द्वारा हम हृदय को ईश्वर के साथ मिलने के लिए समर्थ बनाते हैं।"[38]

इस प्रकार ईश्वरानुभूति का सशक्त माध्यम वे अन्तःप्रज्ञा को मानते हैं। अन्तःप्रज्ञा एवं प्रज्ञा के विवेचन से राधाकृष्णन् ने विश्वदर्शन को दो भागों में विभाजित कर दिया है। पूर्व ने अन्तःप्रज्ञा और पश्चिम में प्रज्ञा को ईश्वरानुभूति का माध्यम माना। पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के संदर्भ में स्पष्ट हो जाता है कि प्रज्ञा की अपनी सीमायें हैं और उनकी अवहेलना से ही दर्शन के क्षेत्र में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। राधाकृष्णन् के अनुसार दर्शन यदि सत् से सम्बद्ध ज्ञान है तो उसे प्रज्ञा की अपेक्षा अन्तः प्रज्ञा की अन्तिमता कों मानना पडेगा। इसे वे चेतना के एक अपूर्व आयाम से सम्बद्ध मानते हैं। अन्तः प्रज्ञा के वास्तविक स्वरूप व क्रियाशीलता का कथन करते हुए उन्होंने लिखा है, "बौद्धिक मानव की परिपूर्णता कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं, बल्कि यह एक ऐसी अपूर्व शक्ति के प्रवाह को सूचित करती है, जो बाहर से प्रवाहमान है और उसे अनुप्राणित कर रही है।"[39]

रहस्यानुभूति के प्रमुख तत्वों का उल्लेख करते हुए डा. राधाकृष्णन् ने धार्मिक अनुभूतियों के स्वरूप के कारण और साक्षात्कार के मार्ग में रहस्यवाद को स्वीकार किया है। उन्होंने इसे विज्ञान का विरोधी नहीं माना[40] क्योंकि यह वैज्ञानिक विश्लेषण के स्वरूप पर आधारित है। राधाकृष्णन् का मत है कि जब हम सत्ता का सहज ज्ञान बुद्धि

38- सत्य की खोज: डा. राधाकृष्णन्, पृ. सं. 145
39- ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थाट : राधाकृष्णन्, पृ. 23-24
40- कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी - बी. के. लाल, पृ. 292

और तर्क के द्वारा नहीं कर पाते तब उसे हम रहस्यानुभूति के माध्यम अभिव्यक्त करते हैं। उनके अनुसार– '' रहस्यवाद विचारों की अपूर्णता तभी है जब वह निषेधात्मक रूप में लिया जाता है।"[41] वास्तव में रहस्यवाद सर्वोत्कृष्ट अनुभूतियों का आवश्यक एवं सहज श्रोत है। इसकी अनुभूति तभी हो सकती है जब बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा अपने को सीमित अनुभव करती है। राधाकृष्णन् इसे प्रायः धार्मिक अनुभूतियों में ही समाविष्ट करते हैं। कोई भी वैज्ञानिक विचारधारा उस समय अमान्य ठहरायी जा सकती है जब उसकी जगह किसी नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन हो जाता है। राधाकृष्णन् का तर्क है कि यदि यह सत्य है तो हम अपनी अनुभूतियों को अतीन्द्रिय मानकर उसी के द्वारा परमसत्ता का नित्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सत्ता को हम सीमित शक्तियों द्वारा ज्ञेय नहीं बना सकते बल्कि जीवन एवं अनुभव के परिप्रेक्ष्य में वह अपरोक्ष रूप अनुभवगम्य है। यह उनके विचार का रहस्यात्मक पक्ष है। उन्होंने इसे रहस्यानुभूति इसलिए बताया कि यह पूर्णतः ग्रहण नहीं हो सकता है फिर भी यह उसकी समस्त क्रियाओं का सार तत्व कहा जा सकता है। राधाकृष्णन् ने रहस्यानुभूति का प्रयोग धर्म के एक विशिष्ट अर्थ में लिया। उनका इससे तात्पर्य है आध्यात्मिक समग्रता की प्राप्ति।[42]

41– कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी – बी. के. लाल, पृ. सं. 292

42– तुलना करें :— Intuition is the direct realisation of its object. It is not knowledge by signs or symbol, it is a direct knowledge culminating in the highest kind of immediacy. In the intuitive apprehension the distinction between the knower and the known completly vanishes, and their duality is completly destroyed. It is in sense, knowing by becoming... Intuition therefore, establishes a unity—almost an identity between the knower and the known. Explaining this point Radhakrishana says that intuitive apprhension we come one with the truth one with the object of knowledge. The object known is seen not as an object outside the self, but parts of the self.

Contemporary Indian Ph. by B. K. Lal, P. 296.

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य :– समसामयिक भारतीय दर्शन के अन्तर्गत कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य नव्य वेदान्त के प्रमुख समर्थक हैं। पूर्व एवं पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने का प्रयास करते हुए एक मौलिक दर्शन के जन्मदाता के रूप में भट्टाचार्य भारत ही नहीं बल्कि विदेशों में भी आदर के पात्र हैं। तत्वमीमांसात्मक कथनों पर संभावना व्यक्त करते हैं क्योंकि वे तत्व-मीमांसा में सत्ता के ज्ञेय स्वरूप को स्वीकार करके पुनः इसी का प्रस्तुतीकरण मानते हैं। वे तत्वमीमांसा को एक ऐसी सत्ता का अनुसंधान मानते हैं जिसे अर्थपूर्ण समझा जाता है।[43]

के. सी. भट्टाचार्य तत्वमीमांसा के दृष्टिकोण को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। अतः विषयी के स्वरूप के साथ न्याय करना उनके लिए संभव नहीं। इस दृष्टिकोण के परित्याग के बाद ही अन्तर्निरीक्षण द्वारा सत् के यथार्थस्वरूप के साक्षात्कार की संभाव्यता दृढ़ हो सकती है। भट्टावार्य परमसत्ता के विषय में उपनिषद् के ज्ञेय एवं अज्ञेय से परे का समर्थन करते हैं। उनका मत है कि जिन बौद्धिक प्रक्रियाओं द्वारा ज्ञेय की पृष्टि और अज्ञेय की अज्ञेयता सिद्ध की जाती है, उनके माध्यम से इन्हें नहीं जाना जा सकता। परमसत्ता के बोध के लिए वे अर्थबोध विषयक चेतना तथा रहस्यवादियों के अन्तर्बोधि उसे सर्वथा से भिन्न मानते हैं। वे दोनों के बीच के बोध को विश्वास कहते हैं। विश्वास उनके लिए तार्किक प्रामाणिकता के अन्तर्गत आनेवाला तथ्य नहीं है। इसके द्वारा वे विषयीका साक्षात्कार संभव बतलाते हैं। इस विषय बोध की चर्चा करते हुए उनका कथन है कि " वह एक व्याख्येय अन्तर्विषय में विश्वास रखनेवाली चेतना है, जिसका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता और जो इसी कारण स्वयं कोई अर्थ नहीं है।" [44] विषयी के बोध का अध्ययन वे ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत करते हैं। तत्वमीमांसा विषयनिष्ठ है जब कि ज्ञान मीमांसा उस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का परिणाम है जिसके नियंत्रण में हम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण और तत्सम्बन्धी पूर्वाग्रहों से मुक्त हो सकते हैं।

43– सब्जेक्ट एज्. ए. फ्रीडम्: भट्टाचार्य, पृ. सं. 17

44– वही, भट्टाचार्य, पृ. सं. 18

ज्ञाता ज्ञेय द्वैत के विभिन्न स्तरों का उल्लेख करते हुए विषयि-निष्ठता के विभिन्न आयामों का अनावरण किया। ज्ञाता की प्रथम अभिव्यक्ति को भट्टाचार्य दैहिक विषयिनिष्ठता कहते हैं तत्पश्चात् सचेतनमन से मानसिक शक्तियों के संघात से ज्ञाता रूप में स्वीकृत हो जाती है और शरीर से अपनेको अलग कर लेती है। ज्ञाता के इस द्वितीय स्वरूप को मानसिकीय विषयिनिष्ठता कहते हैं। यद्यपि वे विषयिनिष्ठता का सक्रिय विभाजन संभव नहीं मानते हैं फिर भी इसके स्वरूप का विभाजन व व्याख्या संभव है। के. सी. भट्टाचार्य का कथन है, " किसी को विषयि निष्ठ स्वरूप से मुक्त करने के मार्ग को विषयि-निष्ठता की विधि कहते हैं।"[45] वे विषयी-विषय की सम्बद्धता का निषेध करते हैं। इसको और अधिक पुष्ट करते हुए उन्होंने कहा है, जैसा कि यह कहा जा सकता है कि विषयी को अनुभूति विभिन्न रूप ग्रहण करती है लेकिन वे विषय से विषयी की भावना को समाहित करते हैं, विषयी एक अभिज्ञाता है जो कि विषय नहीं है।[46]

अपनी पुस्तक ' सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम् " में उन्होंने आत्मा के इस पारमार्थिक स्वरूप का और अन्ततः अद्वैत वेदान्त के मूल निष्कर्षों को अपनी पूर्व शैली द्वारा समर्थन किया है। इनके अनुसार विषय वह है जो अभिप्रेत किया जा सकता है और इसका संकेत इस शब्द से किया जाता है जब कि विषयी एक ऐसी सत्ता है जो अर्थों के जगत् से पृथक् होते हुए भी एक अपूर्व अर्थ में अर्थपूर्ण है। अतः वे जगत् की सत्ता को अर्थात् विषयों को " विषयी " से पृथक् समझे। कन्तु विषयी और विषय दो समस्तरीय सत्तायें नहों हैं। अतः इस सापेक्षता का ज्ञान उनमें विषय में अनुचित है। एक विशिष्ट अर्थ में विषयी विषयों का अधिष्ठान है। विषय का विषयी से पृथकत्व अर्थपूर्ण है किन्तु इसी संदर्भ में विषयी एवं विषय का पृथकत्व संभव नहीं। विषयों को सार्थक बनाने वाला तत्व उसके समक्ष कैसे हो सकता है ?

45– सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम्, के. सी. भट्टाचार्य, पृ. 29
46– सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम्; के. सी. भट्टाचार्य, पृ. सं. 40

अस्तु विषयी स्वयमेव ज्ञेय है। उसकी सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि निराकरण शब्द की सार्थकता भी ज्ञेय जगत् के अन्तर्गत ही है। इसलिए यह प्रयोग ज्ञेय जगत् में ही संभव है। विषयी को अचिन्त्य नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि "विषयी एक ऐसी सत्ता है जिसका अन्तर्विषय अपूर्व एवं विश्लेषणीय है और जो सार्थक विश्व से पृथक् होते हुए भी एक विशेष अर्थ में समझी जाती है और जिसमें विश्वास किया जा सकता है।"[47]

के. सी. भट्टाचार्य का कथन है कि विषयी (मैं) उसके द्वारा आध्यात्मिक आत्मनिरीक्षण में कभी भी स्वीकृत नहीं हो सकता। उन्होंने आध्यात्मिक चेतना को केवल सत्ता की चेतना नहीं माना बल्कि स्वयं सत्ता माना। के, सी. भट्टाचार्य ने "विषयी" शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। अतः इसका निषेधात्मक वर्णन ही इन्होंने प्रस्तुत किया। जिस प्रकार उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का निषेधात्मक कथन प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार इन्होंने विषयी के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। के. सी. भट्टाचार्य का कथन है कि विषयी का यह निषेधात्मक कथन ही उसके वास्तविक स्वरूप का कथन करता है। भट्टाचार्यका कथन है, "विषयी का स्वरूप किसी व्यक्ति को विषय से अलग करने का मार्ग है।"[48] विषय का सामान्य परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि "यह" शब्द ही विषयका पूर्ण परिचय देता है। विषयी के कथन के लिए उन्होंने किसी प्रतीक शब्द का प्रयोग नहीं किया। यद्यपि "मैं" शब्द को उन्होंने विषयी का प्रतीक माना है किन्तु "मैं" शब्द के अतिरिक्त "तुम" या "वह" भी विषयी का ही कथन करता है। अतः किसी सामान्य शब्द द्वारा लिखित रूप से विषयी का कथन नहीं हो सकता। विषयी और विषय के सम्बध में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य उन्होंने बताया कि विषयी का प्रयोग विषय के रूप में हो सकता है किन्तु विषय विषयी नहीं हो सकता। भट्टाचार्य का कथन है, "यह

47- समकालीन भारतीय दर्शन: लक्ष्मी सक्सेना, पृ. सं. 246
48- के. सी. भट्टाचार्या, सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम्, पृ. सं. 29

मैं हूँ यह कथन गलत है जब कि ' मैं यह हूँ ' के कथन को इंकार नहीं किया जा सकता। "[49] भट्टाचार्य का कथन है, "हम आत्मा को विषय के रूप में नहीं जानते लेकिन विषय से इसका भेद जानने के लिए विषय को इससे अलग ही जानते हैं। "[50] वस्तुतः भट्टाचार्या नें विषयी को चेतना के रूप में प्रयुक्त किया और ' मैं ' को कुछ सीमा तक विषयी माना। उन्होंने ' मैं ' का सामान्य अर्थ न लेकर चेतना के संदर्भ में ही विषयी का प्रयोग किया।

भट्टाचार्या का मत है कि विषयी अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव स्वयं करता है। यदि विषयी की व्याख्या को हम निषेधात्मक सिद्धान्त से सम्बद्ध कर दें तो हम देखेंगे कि विषयी के वास्तविक स्वरूप से तादात्म्य के लिए उत्तरोत्तर क्रम में विषयी की विभिन्न अवस्थायें प्राप्त होंगी। भट्टाचार्या ने विषयी से तादात्म्य ग्रहण करने का महत्वपूर्ण कदम विषय का निषेध बताया। यदि हम विषय का पूर्णतः निषेध कर दें तो स्वयं को मुक्त पायेंगे। के. सी. भट्टाचार्या भौतिक शरीर व सूक्ष्म शरीर में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि भौतिक शरीर वह है जिसे हम बाह्य रूप से अनुभव करते हैं तथा सूक्ष्म शरीर अन्तर्ज्ञान का विषय है। पुनः उनका कथन है कि विषयी अपने को उपर्युक्त दोनों प्रकार के शरीर में मुक्त रखता है।

के. सी. भट्टाचार्या ने परमतत्व को अनन्त कहकर इसे विषय और विषयी दोनों से भिन्न माना। उन्होंने इसे अचिन्त्य माना। इसके बारे में यह कुछ प्रतीकों से सहारा प्राप्त करने का प्रयास हो सकता है। वे कांट के अज्ञेयवाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि यह उनकी सबसे बडी भूल थी। उनका मत है कि सत्ता को अज्ञेय कहना ही सत्ता का ज्ञान प्रस्तुत करता है।

49– के. सी. भट्टाचार्या: द सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम्, प1 पृ. 6

50– के. सी. भट्टाचार्या: स्डडीज् ऑफ् फिलासफी, 1 पृ. सं. 151

संत रानडे :- रानडे रहस्यवाद एवं समकालीन दर्शन के प्रमुख युगचेता दार्शनिक थे। अपनी उत्कृष्टतम विचारों को संकलित कर इन्होंने दर्शन साहित्य को अत्यधिक उपकृत किया है। लगभग बारह पुस्तकों की रचना इन्होंने दर्शन की प्रमुख समस्या हल करने के लिए ही की है। अपने सम्पूर्ण चिन्तन एवं लेखन प्रक्रिया में इन्होंने रहस्यवाद के अंकुर को विकसित करने का प्रयास किया। उनका यह दार्शनिक प्रयास विज्ञान का विरोधी नहीं था। आध्यात्मिकता के प्रति अपने दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने स्वयं कहा है, " एक दार्शनिक के रूप में, जिसने अपने जीवन के लगभग चालीस वर्ष दर्शन के अध्ययन में व्यतीत किये हों वह जानता है कि धर्म या धर्म की शाखा में यदि वे ईश्वर की सेवा कर रहे हैं तो कोई विरोध नहीं।"[51] उनके मतानुसार यह प्रत्येक दार्शनिक का कर्तव्य है कि वह इन धर्मों में अन्तः प्रवेश करें और देखें कि क्या इन विचित्र मतों के लिए एक सार्वभौमिक मत नहों खोजा जा सकता ?

रानडे का यह आजीवन प्रयास रहा कि उन्होंने दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्तों द्वारा ईश्वरानुभूति के संदर्भ में जितने भी तथ्य ग्रहण किये उन्हें अनुभूति की कसौटी पर कसकर तथा उसके व्यष्टिगत रूप आत्मानुभूति द्वारा साक्षात्कार प्राप्त करने की प्रक्रिया को सार्वभौमिकता प्रदान की। उन्होंने सन् 1937 ई. में भारतीय दर्शन परिषद के सभापतित्व पद से नागपुर में जो अभिभाषण किया था, उसमें आधुनिक भौतिक शास्त्र, जीव विज्ञान तथा स्नायु विज्ञान की खोजों के प्रकाश में आत्मतत्व सम्बन्धी दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की थी।

" विश्व का केन्द्र " नामक शीर्षक पर रानडे ने अपने प्रारम्भिक जीवन में ही एक समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किया था। जिसपर कार्लाइल का आध्यात्मिक प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। उसमें निर्दिष्ट आध्यात्मिक सत्ता की बहुवादी धारणा से ही उनके दार्शनिक

51- कर्नाटक रहस्यवाद, भूमिका पृ. सं. 2 और 3

चिंतन का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने डा. मैकेनिकल की भारतीय ईश्वरवाद तथा डा. भण्डारकर की अशोक पर लिखी हुई पुस्तकों का रिव्यू लिखा। रानडेने अपने प्रयास निवासकाल में यहीं आत्मतत्व का दर्शन तथा याज्ञवल्क्य और दार्शनिक गल्प दो निबन्ध लिखे। इनमें इनकी दार्शनिक प्रतिभा का और अधिक विकास दृष्टिगत होता है।

रानडे ने उसी समय यूनानी दर्शन पर शोधपूर्ण कार्य के रूप में " फिलासफिकल एण्ड अदर एस्सेज ". नामक निबन्ध संग्रह प्रकाशित किया। यूनानी दार्शनिकों ने इसकी बडी प्रशंसा की। श्री अरविन्द के शब्दों में इस प्रकार कुशल लेखक और गम्भीर विचारक के द्वारा लिखा हुआ सम्पूर्ण यूनानी दर्शन का इतिहास एक अमूल्य निधि है। इसके अतिरिक्त रानडे सन्त साहित्य के प्रथम और महान् भाष्यकार के रूप में भी देखे जाते हैं। इनके पूर्व सन्त साहित्य का जो कुछ विवरण मिलता है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ही प्रकट करता है। दार्शनिक, नैतिक तथा आनुभविक दृष्टि से सन्त साहित्य का प्रा. रानडे को छोड़कर, भाष्य किसी ने भी नहीं किया है। अपने इस अपूर्व भाष्यद्वारा उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कबीर और तुलसी का स्थान तत्वदर्शन में पाश्चात्य दार्शनिकों प्लेटो, प्लाटिनस, स्पीनोजा एवं सुकरात से कम मूल्यवान नहीं है।

रानडे के दर्शन एवं समकालीन दर्शन की प्रवृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि इनका दर्शन तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्ति से प्रभावित अवश्य था। रानडे के पूर्व जितने भी दार्शनिकों व विचारकों ने समसामयिक दर्शन में योगदान किया सभी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। उन्होंने तत्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा के सभी विचारों पर भारत की प्राच्य विद्या अर्थात् आध्यात्मिक चिंतन का प्रयोग कर भारतीय दर्शन को विश्व के दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया। इस प्रयास का प्रभाव रानडे पर बचपन से ही पडता रहा। फलतः उन्होंने बाल्यकाल से ही स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस एवं मध्यकालीन संतों के दार्शनिक मतों

का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। वे इतने तक ही सीमित न रहे, बल्कि उसी संदर्भ में समस्त ग्रीक दार्शनिकों का उन्होंने अध्ययन किया, और परिणामतः उपनिषद् दर्शन को ही सभी का श्रोत पाया। उपनिषद् और आधुनिक दर्शन के सम्बन्ध-निरूपण में उनका कथन है – " उपनिषदों में हमें शुद्धाद्वैत, सगुण (विशिष्ट) अद्वैत, बहुपुरुषवाद, अहमेववाद, रहस्यवाद प्रज्ञा और अनुभूति का सम्बन्ध आदि अनेक सिद्धान्त मिलते हैं जिन्होंने वर्तमान दार्शनिक जगत् को विभाजित कर रखा है। अब पश्चिमी तत्ववेत्ताओं की भारतीय दर्शन विशेषकर उपनिषदीय दर्शन के प्रति उपेक्षा संगत नहीं है। "[52]

रानडे ने नीतिदर्शन की रूपरेखा उपनिषद् दर्शन के आधार पर ही तैयार की। उनका विश्वास था कि उपनिषदीय दर्शन का चरम विकास व्यक्तिगत आत्मा में दिव्यात्मा का दर्शन है। नैतिक समस्याओं पर उनका गहन चिंतन और फलस्वरूप उन सबका उत्कृष्ट स्पष्टीकरण ईश्वर से मिलने की उनकी उत्कृष्ट अभिलाषा से प्रोत्साहित था। रानडे ईश्वर का दर्शन प्रत्येक वस्तु में करते थे और ईश्वर में समस्त जगत् का दर्शन करते थे। यह उनके रहस्यवाद का अत्यन्त प्रभावपूर्ण पक्ष था जिसके आधार पर उन्होंने आजीवन दार्शनिक की अपेक्षा रहस्यवादी कहलाना उचित समझा। नव्य वेदान्त के पोषक होने के कारण अद्वैत तत्व की मान्यताने उन्हें प्रभावित अवश्य किया किन्तु उन्होंने ईश्वर को ही अद्वैततत्व के रूप में स्वीकार किया। शंकर का ब्रह्म रानडे के दर्शन में ठीक उसी में प्रतिष्ठित हुआ। उनका कथन है, " अद्वैतवादी के लिए आत्मा से बाह्य और आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। आत्मा के किसी स्वरूप का ज्ञान उसकी पूर्णता का ज्ञान है, समस्त कारण सृष्टि का परममूल आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु माया है। आत्मा ही एकान्तिक सत्तावान तत्व है और उसके अतिरिक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं। "[53]

52– उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी पृ. भूमिका

53– रानडे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. पृ. सं. 149

रानडे ने अद्वैत दर्शन के ब्रहम् सम्बन्धी निषेधात्मक कथनों को भी विधानात्मक माना है। डा. राधाकृष्णन् ने 'आधुनिक दर्शन में धर्म का साम्राज्य' की समाप्ति उपनिषदों के एक अध्याय से की है। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि किस प्रकार डा. राधाकृष्णन् स्वयं उपनिषदों को वर्तमान विचारकों में एक दृष्टिकोण प्रदान करने समर्थ मानते हैं। ढ़ाका विश्वविद्यालय के प्रो. जी. एच. लांगले ने "उपनिषदों में विश्वात्मा की कल्पना तथा जीवात्मा से उसका तादात्म्य" नामक एक लेख ए. जी. विजरी तथा रानडे द्वारा सम्पादित भारतीय दर्शन समीक्षक (1920) में लिखा जिसका आशय है कि आत्मा समन्वय की प्रक्रिया में अनुभवजन्य संस्कारों को विकृत नहीं करती किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप के प्रकाशन में अपनी प्रवृत्ति का उपयोग करती है।

रानडे का समकालीन दर्शनिकों से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वे आत्मा, ब्रह्म एवं ईश्वर के कथनों में उन्हीं मान्यताओं को समाविष्ट करते हैं जो उपनिषदों में वर्णित है। फिर समस्त समसामयिक दर्शन वेदान्त की पुनर्व्याख्या होनेके कारण विरोध का कोई प्रश्न नहीं उठता। सभी दार्शनिकों का साध्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है। इसके लिए इन्होंने विभिन्न साधनों का उपयोग अवश्य किया है किन्तु उसमें भी एक सामंजस्य दिखायी पड़ता है। वह सामंजस्य है इसकी आध्यत्मिकता। भारतीय दर्शन जो अभी तक मात्र एक सम्प्रदाय अथवा तार्किक विश्लेषण के रूप में स्वीकृत था, समसामयिक कालमें आकर विचारकों की गहन अनुभूतियों से समन्वित हुआ। परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक चिंतन का व्यापक दृष्टिकोण इसे ईश्वरानुभूति के प्रति जागृत किया। इस जागृति का श्रेय रानडे को अवश्य दिया जा सकता है क्योंकि इनके दर्शन में सन्त एवं महात्माओं की प्रज्ञात्मक अथवा अन्तर्दृष्टि का प्रभाव रहा है साथ ही साथ भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन के समन्वय की प्रवृत्ति भी परिलक्षित है।

रानडे ने भारतीय दर्शन के महत्वपूर्ण विषय अर्थात् मोक्ष के स्वरूप एवं उपयोगिता पर काफी प्रकाश डाला है। भारतीय दर्शन में साधारण

रूप से जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति का कथन मिलता है। रानडे इनसे सहमत हैं। पुनः वे सर्वमुक्ति सिद्धान्त की परीक्षा करते हैं और वे सर्वमुक्ति के स्थान पर परिवार मुक्ति[54] का कथन करते हैं। एक मुक्ति व सर्व मुक्ति को पक्ष व विपक्ष मानते हुए उन्होंने परिवार मुक्ति को संभव माना। उनका कहना है कि आध्यात्मिक गुरु अपने को ही मुक्त नहीं करता बल्कि अपने साथ अपने शिष्यों एवं परिवार को भी मुक्त करता है। ईश्वर और मुक्त पुरुष के बीच भेद बताते हुए रानडे ने तीन स्तर स्वीकार किये। पहला है आत्मा का सगुण ब्रह्म से तादात्म्य, दूसरा, आत्मा का निर्गुण ब्रह्म के प्रतिबिम्ब रूप में और तीसरा परमानन्द की प्राप्ति।[55]

एक भाष्यकार के अतिरिक्त रानडे को अनेक मतों के समन्वय करने का श्रेय भी प्राप्त है। पूर्व एवं पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित कर उससे एक विशेष तथ्य निकालना रानडे की बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। वे ईश्वरानुभूति दर्शन की व्याख्या के लिए सभी धर्मों को समान रूप से अपनाते हैं। गीता की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है, " This reconcilation could be based only on a view of reality which regards the relisation of god as the be all and end all of all experience. This mystical view of reality alone will enable us to reconcile all the intellectual dogmas have infested the phiosophies of the world. What we experience what we fell and what we realise should alone constitute our philosophy "[56]

54- रानडे : पाथ वे टु गॉड इन् हिन्दी लिटरेचर – पृ. सं 264–65

55- वी. आर. कुलकर्णी – क्रिटिकल एण्ड कन्सट्रक्टिव एस्पेक्टस् आफ् रानडेज् फिलासफी पृ. सं. 94

56- रानडे : भगवद्गीता एज ए फिलासफी आफ् गॉड रियलाइजेशन पृ. सं. 191

विज्ञान और धर्म में भी समन्वय स्थापित करने का उन्होंने प्रयास किया। आध्यात्मिक साम्राज्य में बुद्धि का प्रयोग वे अनुचित नहीं मानते बल्कि इसी के द्वारा उन्होंने अपने बौद्धिक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा की।

भारतीय समकालीन दर्शन के अन्तर्गत रानडे एक रहस्यवादी दार्शनिक के रूप में उपस्थित हुए। उनकी रहस्यानुभूति उन्हें मुक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त थी।[57] रानडे को ईश्वर की कृपा प्राप्त थी। हम केवल दर्शन के विषय में बात कर सकते हैं, किन्तु रानडे ने वास्तव में इसमें जीवन व्यतीत किया। उनके लिए दर्शन ज्ञान का श्रोत है, मात्र बौद्धिक अभ्यास नहीं। रानडे को मानवता एवं देशप्रेमी के रूप में देखने पर यह तथ्य उपलब्ध होता है कि रानडे ने भी विवेकानन्द एवं अरविन्द की भाँति भारत के सुखमय भविष्य की कामना की है। रानडे में सार्वभौमिक भातृ भावना समाविष्ट थी। वे आध्यात्मिक भ्रातृत्व को जड़ तथा सार्वभौमिक भ्रातृत्व को उसका फल मानते थे।[58] उन्होंने ईश्वरानुभूति के संदर्भ में प्रत्येक वस्तु एवं प्राणी से प्रेम किया। रानडे ने इसे स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है – There is only one culture which is The spiritual culture of humanity. Though its bodies are different, its soul is one. The relation of God and man is the basis of this culture. The one real religion of humanity is the religion of god-realisation which is the only means of bringing about unity among mankind "[59]

अस्तु, भारतीय समकालीन चिन्तन परम्परा में प्रो. रानडे एक मौलिक चिन्तक के रूप में अद्वैत दर्शन की भावभूमि पर ईश्वरानुभूति का सहज मार्ग प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है कि 'यदि केवल ज्ञान

57– His mystic experience is sufficient for his own elevation into divinity But he philosopoies, he may raise thinking humanity into divine kingdom of ends —Mysticism in Maharastra; Ranade, p. 494

58– रानडेज् लाइफ आफ् लाइट – एम्. एस्. देशपाण्डे, पृ. सं. 252

59– रानडे, पाथ वे टू गॉड इन् हिन्दी लिटरेचर – पृ. 284

परमतत्व हो सकता है तो आनन्द जिसे कि शंकराचार्य ने परमानन्द कहा है; क्यों नहीं परमतत्व हो सकता ? भारतीय दर्शन के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन वेद एवं उपनिषद् दर्शन से ही निःसृत है और उपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि ' आनन्द से ही सभी भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अन्ततः आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं '।[60] इसी तथ्य पर प्रो. रानडे ने आनन्द तत्व को ही परमतत्व माना। परमानन्द की उपलब्धि के संदर्भ में जिस मार्ग का उल्लेख उन्होंने किया उसे उन्होंने रहस्यानुभूति अथवा ईश्वरानुभूति मार्ग कहा। यही रहस्यवाद की चरम परिणति है।

तत्वदर्शन और रहस्यवाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रो. रानडे ने कहा कि प्रायः इन दोनों में व्याघात माना जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि रहस्यवाद तत्वदर्शन नहीं हो सकता क्योंकि वह मौनवाद है और दर्शन निर्वचनवाद। रानडे ने ऐसे विचारकों वैसे उपनिषद् के ' नेति-नेति ' कथन के वास्तविक अर्थ को पुनः सम्यक् रूप से समझने का आग्रह किया। उनका कथन था कि मौन और निर्वचन एक ही स्थिति है क्योंकि तत्व को प्रस्तुत करने के लिए निर्वचन की स्थिति में ही मौन का अनुसरण किया जाता है। इसी मार्ग का अनुकरण महात्मा बुद्ध भी कर चुके हैं। रानडे का मत है कि आत्मानुभूति की स्थिति में प्रायः सभी संतों, दार्शनिकोंने इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

प्रो. रानडे आत्मदर्शन में ही तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों को समाहित कर लेते हैं क्योंकि दोनों में अपरोक्षानुभूति होती है। तत्वदर्शन और रहस्यवाद दोनों का साध्य भी एक ही है। अपनी चरम परिणति में दोनों एकाकार हो जाते हैं। कुछ दार्शनिक तत्वदर्शन को साध्य और रहस्यवाद को साधन मानते हैं किन्तु रानडे का विचार है कि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

60- तैत्तरीय उपनिषद् 3.6।

प्रो. रानडे ने रहस्यवाद को ही प्राथमिकता देते हुए इसे बुद्धि या कल्पना से इतर साक्षात् अनुभूति का मार्ग बताया। इसके अन्तर्गत उन्होंने तत्व का दर्शन, स्पर्शन्, घ्राण और रसन सभी को एक साथ उपलब्ध बताया। इसी को उन्होंने दर्शन की परिपूर्णता भी कहा। दर्शन और धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि " इन दोनों का आपस में इतना गाढ़ा सम्बन्ध है कि एक दूसरे को पृथक् कर देने से दोनों निर्बल हो जाते हैं।"[61] उनके अनुसार दर्शन और धर्म आकार और द्रव्य की तरह एक हैं। यद्यपि दर्शन ईश्वर, जगत् एवं आत्मा की समस्या के निराकरण के लिए तार्किक भावभूमि तैयार करता है और धर्म अपरोक्षानुभूति के आधार पर इसके समाधान का प्रयत्न करता है किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है। यहाँ लक्ष्य की दृष्टि से दर्शन और धर्म को एक कहने का प्रयास नहीं किया जा रहा है बल्कि इसे दोनों की सन्निकटता की प्रस्तुति अवश्य कहा जा सकता है।

प्रो. रानडे किसी भी सिद्धान्त का अनुकरण करने के पूर्व उसका सम्यक् अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक मानते हैं। उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय दोनों दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया और तब दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए अपने कथन को प्रामाणिकता प्रदान की। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की शैली में उन्होंने कहा कि दर्शन बिना धर्म के रिक्त है और धर्म बिना दर्शन के अन्धा। इन दोनों का सामञ्जस्य ही गन्तव्य और परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो सकता है। धर्म से उनका तात्पर्य मानव का ईश्वर से साक्षात् सम्बन्ध से है। दर्शन को उन्होंने सत्ता के रहस्योद्घाटन का साधन बताया।

प्रो. रानडे द्वारा प्रणीत रहस्यानुभूति के संदर्भ में क्रमशः विचार करने के लिए सर्वप्रथम उनको इस मान्यता को मानना पडेगा कि आनन्द ही परमतत्व है। इसके पश्चात् ईश्वरानुभूति मार्ग का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया इसमें ज्ञान, भावना और कर्म में से किसी एक

61– फिलासफिकल एण्ड अदर एस्सेज्, रानडे : पृ. 136

का पूर्ण विकास[62] होना नितान्त आवश्यक है। यदि तीनों का विकास एक साथ सम्भव हो तो रहस्यवाद अपनी उत्कृष्टता प्राप्त कर साधक को ईश्वर के अधिक सन्निकट कर सकता है। उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को स्वतन्त्र मार्ग मानते हुए भक्तिमार्ग को सर्वोत्कृष्ट और सरल मार्ग अवश्य माना। भक्ति मार्ग के लिए निरन्तर ध्यान की आवश्यकता पर बल देते हुए इसे ईश्वरानुभूति का प्रभावशाली स्रोत बताया। इसके लिए सद्गुरु की आवश्यकता पर उन्होंने विशेष बल दिया। उनके अनुसार एक सच्चा गुरु साधक को सीधे ईश्वरानुभूति लाभ दे सकता है। उन्होंने गुरु के तात्विक, नैतिक और रहस्यात्मक कार्यों का भी उल्लेख किया है। तात्विक कार्य के अन्तर्गत उन्होंने भ्रम के निराकरण तथा वैयक्तिक आत्मा का परमात्मा से एकात्म सम्बन्ध स्थापित करने के कार्य को सम्मिलित किया। नैतिक कार्यों में इन्द्रियों पर अधिकार एवं बुरे विचारों का निराकरण सम्मिलित है। गुरु की असीम कृपा से साधक में अहंभाव का सर्वथा नाश हो जाता हैं और वह शरणागत की स्थिति में गुरुपदिष्ट मार्ग को स्वीकार करने के लिए गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। इसी संदर्भ में गुरु साधक को अलौकिक एवं दैवीय स्थिति का अनुभव देता है। इसके पश्चात् साधक को असीम आनन्द की उपलब्धि होती है।

गुरु द्वारा निर्दिष्ट ईश्वर के नाम की सतत आराधना को कबीर जैसे महान सन्त ने भी स्वीकार किया है। एक रूपक के माध्यम से उन्होंने सबीज नाम और निर्बीज नाम का उल्लेख करते हुए उपासना के विभिन्न स्वरूप पर प्रकाश डाला। प्रो. रानडे ने तीन प्रकार की उपासना का उल्लेख किया है। प्रथम प्रतीकोपासना, द्वितीय गुणोपासना और तृतीय अहंग्रहोपासना। उन्होंने प्रकृति के अनुकूल अथवा इच्छानुसार किसी भी मार्ग को स्वीकार करने का निर्देश देते हुए अपनी पुस्तक 'द भगवद्गीता एज ए फिलासफी ऑफ् गॉड रियलाइजेशन' में तीनों का विधिवत् वर्णन किया है। प्रथम पद्धति को उन्होंने बौद्धिक पद्धति व

62- पाथ वे टु गॉड इन् हिन्दी लिटरेचर, रानडे : पृ. 4 (भूमिका)

द्वितीय को नैतिक पद्धति और तृतीय को रहस्यात्मक पद्धति के नाम से भी अभिहित किया है। बौद्धिक पद्धति में उन्होंने ईश्वर–विचार अथवा कल्पना की आवश्यकता बताते हुए इसे दार्शनिकों के लिए उपयुक्त बताया। नैतिक पद्धति को उन लोगों के लिए उपयुक्त बताया जो ईश्वर को नहीं मानते लेकिन नैतिक मूल्यों को मानते हैं। सांख्य और योग दर्शन में इसी प्रकार की उपासना का उल्लेख है। बौद्ध दर्शन भी कुछ इसी प्रकार की उपासना को महत्व देता है। ऐसे व्यक्ति नैतिकता को ही परमधर्म मानते हैं। गुणों की उपासना से उनके अन्दर उन गुणों की स्वयमेव स्थापना हो जाती है और यही आध्यात्मिक भावभूमि को सुदृढ बनाने में सहायक भी होती है। रहस्यात्मक पद्धति को डॉ. रानडे ने सर्वोत्कृष्ट मार्ग बताते हुए कहा कि यह एक ऐसा मार्ग है जो दार्शनिक अथवा नैतिकता प्रधान व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि सभी के लिए सर्व सुलभ है। यह विश्व के अनेकानेक भक्तों द्वारा पुष्ट मार्ग है। कोई भी व्यक्ति इस मार्ग पर चलकर सहज ही ईश्वरानुभूति लाभ प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त उपासना में किसी विशेष साधन व शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त सूत्र के अनुसार चित्त की एकाग्रता ही इसका आधार बिन्दु। किसी भी समय किसी भी स्थान व दिशा में यह कार्य सम्पन्न हो सकता है। प्राणायाम के सन्दर्भ में उनका विचार है कि हमें इसके द्वारा ध्यान को केन्द्रित करने में सहायता मिलती है लेकिन ईश्वरानुभूति के लिए नैतिक समृद्धता भी अत्यावश्यक है। नैतिकता के अभाव में कोई भी साधक ईश्वर लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। विचारों पर नियंत्रण एवं तृष्णा के परित्याग द्वारा नैतिक परिपक्वता प्राप्त की जा सकती है। तत्पश्चात् प्रो. रानडे ने भक्ति के महत्व पूर्ण तथ्यों को आत्मानुभूति के संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए बताया कि ऐसी अवस्था में प्रायः मन में दो प्रकार की क्रियायें प्रारम्भ होती हैं। पहली मन से अनावश्यक विचार को निकाल देना। दूसरी, ईश्वर के स्वरूप, आदर्श व नामस्मरण को आत्मसात करना। प्रथम क्रिया को उन्होंने निषेधात्मक क्रिया और दूसरी को विधेयात्मक क्रिया

बताया। भाव अथवा भक्ति के बिना उपर्युक्त क्रियायें कार्यान्वित नहीं हो सकतीं? जगत्नियन्ता के प्रति असीम श्रद्धा व विश्वास से ही आध्यात्मिक पथ सुलभ हो सकता है। डॉ. रानडे ने इसे असीमित और अवर्णनीय बताते हुए एक विलक्षण अनुभूति की संज्ञा दी। इसके लिए वे सतत् आराधना द्वारा सर्वप्रथम ईश्वरीय अनुकम्पा प्राप्त कर लेना आवश्यक मानते हैं। बिना ईश्वरीय अनुकम्पा के न तो सद्गुरु की प्राप्ति हो सकती है और न तो ईश्वर लाभ ही।

मोक्ष अथवा मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए प्रो. रानडे ने कहा कि इसका निर्धारण उपासना पद्धति के आधार पर होता है। जिस प्रकार तीन प्रकार की उपासना का उल्लेख किया गया उसी प्रकार तीन प्रकार की मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इसे क्रमशः निकट मुक्ति, अन्तर्भाव मुक्ति और आत्मदर्शन मुक्ति की संज्ञा दी। हिन्दी के प्रख्यात कवि बहिरो ने केवल ईश्वर नाम के उच्चारण से ही मुक्ति की कामना की है। संत तुलसीदास, कबीर व सूरदास ने भी ऐसा ही कथन प्रस्तुत किया है। रानडे इसे स्मरण मुक्ति कहते हैं। ईश्वर के स्वरूप का भली भाँति हृदय में स्थान निर्धारित हो जाने के बाद प्राप्त मुक्ति को अन्तर्भाव मुक्ति की संज्ञा देते हुए रानडे ने इसे रामानुज की सादृश्य मुक्ति के तुल्य बताया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पाथ वे टु गॉड' में उन्होंने विभिन्न संत कवियों के पदों को संकलित कर ईश्वरानुभूति को विधिवत् स्पष्ट किया है। एक ओर जहाँ साधक के प्रारंभिक प्रयास को आवश्यक माना है; वहीं दूसरी ओर उन्होंने ईश्वर की अनुकम्पा द्वारा इसे कृतार्थ करने की आवश्यकता पर भी बल दिया है।

मुक्ति के संदर्भ में एक बहुत बडी कठिनाई, जिसका अनुभव प्रो. रानडे ने स्वानुभूति द्वारा प्रमाणित करके उल्लेख किया, वह है कि वे इस अनुभूति को भाषा द्वारा अथवा अन्य किसी माध्यम से व्यक्त नहीं कर पाये। शायद प्रो. रानडे ने इसी स्थिति में अपने दर्शन को रहस्यवाद की संज्ञा दे दी। इन अलौकिक अनुभूतियों को जितना

उन्होंने आत्मसात किया उतना भाषा के द्वारा प्रस्तुत नहीं कर पाये। इसी तथ्य के आधार पर उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि अनुभूति अथवा ईश्वर-दर्शन केवल आत्मा की वस्तु है। वह तमाम भौतिक तथ्यों से परे एक असीम आनन्द की सहज उपलब्धि है। सच्चा आनन्द केवल आत्म दर्शन में मिलता है और यही निरपेक्ष सत् अथवा ब्रह्म है। इसीलिए प्रो. रानडे ने अपने दर्शन को 'आनन्दवाद' की भी संज्ञा दी और इसे भारत का सनातन दर्शन भी माना।

प्रो. रानडे अद्वैतवाद के समर्थक थे। इसीलिए जगत् की भ्रमता और तुच्छता के कथन को स्वीकार करते हुए इसका उल्लेख उन्होंने अपने रहस्यवादी अद्वैतवादके अन्तर्गत किया है। अन्य अद्वैत वेदांतियों को वे ज्ञानमीमांसीय अद्वैतवादी अथवा मनोवैज्ञानिक अद्वैतवादी कहते हैं। आनन्द का प्रत्ययन मनोवैज्ञानिक नहीं है। आनन्द कोई मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि एक तत्वदार्शनिक बोध है। डॉ. रानडे के अनुसार सत् की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम आनंद है। इस प्रकार सत् का अन्तर्भाव भी आनन्द में ही हो जाता है। अन्त में रानडे ने यहां तक कहा कि "सभी वस्तुओं का उत्स आनन्दानुभूति हो सकती है।"[63]

63– ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी – रानडे : पृ. 775

सप्तम् परिच्छेद

उपसंहार

किसी भी दर्शन अथवा दार्शनिक के सिद्धान्त को उसकी समग्रता में समझने के लिए उसकी सामयिक परिस्थितियों और परम्पराओं पर विचार कर लेना आवश्यक होता है। प्रत्येक दर्शन किसी युग विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप ही जन्म लेता है और उस युग विशेष की प्रवृत्तियाँ उसमें प्रतिबिम्बित भी होती हैं। वैसे तो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन उपनिषद् दर्शन का प्रतिबिम्ब माना जाता है किन्तु कुछ विचार उपनिषदीय तथ्यों के बहुत ही निकट हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने के पश्चात् ही हम उन प्रतिबिम्बों के पारस्परिक भेद को समझ सकते हैं।

भारतीय समसामयिक दर्शन भारतीय दार्शनिक चिन्तन का पर्यवसान माना जाता है। इसके अन्तर्गत वेदान्त की मूल शिक्षायें अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर सुस्पष्टता एवं सरल शैली का अनुकरण करती हुई मानवीय जिज्ञासा को पूर्णतयः सन्तुष्ट कर देती हैं। समसामयिक काल तार्किक एवं विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है क्योंकि इस युग ने वैज्ञानिकों एवं बौद्धिक चिन्तकों को आध्यात्मिकता की सहज भावभूमि प्रदान की है। ऐसे ही वातावरण में रानडे ने अपने रहस्यवादी दर्शन को पूर्ण आध्यात्मिकता प्रदान कर उपनिषदीय दर्शन की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। नव्यवेदान्ती के रूप में उनका यह कार्य पूर्णतयः मौलिक नहीं कहा जा सकता फिर भी रहस्यवाद को सहज भावभूमि पर अवतरित कर उसे एक नयी दिशा देकर दार्शनिक और बौद्धिक स्पष्टीकरण करने का श्रेय रानडे को अवश्य दिया जा सकता है।

उपनिषदों में वर्णित आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य सम्बन्धी कथनों को समकालीन दार्शनिकों ने जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास कहां तक सफल हुआ, इसके लिए हमें विभिन्न समसामयिक दार्शनिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा ताकि इस संदर्भ में रानडे द्वारा प्रयुक्त रहस्यवाद का मूल्यांकन हो सके।

रानडे की दार्शनिक कृतियों एवं उनमें प्रयुक्त दार्शनिक विचारों के सम्यक् अध्ययन से निर्विवाद रूप से यह तथ्य प्राप्त होता है कि उन्होंने उपनिषदीय तथ्यों को मूलतः स्वीकार किया है। उपनिषदों में हमें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं। रानडे ने इस मान्यता को ठीक उसी रूपमें अपने रहस्यवाद में आत्मसात कर लिया तथा सगुण उपासना के माध्यम से ईश्वरानुभूति की व्याख्या की।

उपनिषदों में रहस्यवाद के बीज अन्तर्निहित हैं, इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए रानडे ने सम्पूर्ण उपनिषद्-दर्शन की पुनर्व्याख्या "ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ् उपनिषदिक फिलासफी" नामक ग्रन्थ में करके अन्ततः यह सिद्ध कर दिया कि रहस्यवाद सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों का उत्कर्ष है। उपनिषदीय दर्शन के प्रति अटूट आस्था व्यक्त करते हुए रानडे का कथन है, "मेरा विश्वास है कि उपनिषदीय दर्शन के निरूपण के रूप में जो कुछ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जायेगा, वह संक्षेपतः सभी प्रधान उपनिषदीय तत्वों की ठोस व्याख्या द्वारा प्रत्येक सत्यान्वेषणी पाठक को सन्तुष्ट कर सकेगा।"[1]

रानडे ने उपनिषदों का ऐतिहासिक सन्दर्भ देने के उपरान्त उनका ज्ञानमीमांसा, सत्तामीमांसा, ब्रह्माण्ड मीमांसा, मनोविज्ञान एवं नीति मीमांसा की दृष्टि से विश्लेषण किया है। उपनिषद् तथा गीता भारतीय दर्शन तथा धर्म के अजस्त्र श्रोत रहे हैं, इसलिए उनपर असंख्य भाष्य और टीकाएं लिखी गयीं। रानडे ने केवल उस

1– रानडे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वे. अनु. रामानंद तिवारी, पृ. सं. 1

परम्परा को ही आगे जारी नहीं रखा वरन् अपने विस्तृत अध्ययन एवं गहन चिन्तन तथा गम्भीरतर साधना के द्वारा रहस्यवाद का निरूपण भी किया। रानडे का कथन है, ''जब हम यह स्वीकार करते हैं कि शंकर, रामानुज और मध्व सभी महान भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र को अपने दार्शनिक विचार विधानका केन्द्र बनाया और साथ ही साथ यह भी माना कि ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय सिद्धान्तों के ही सूत्रमय सारांश हैं, तो सचमुच आश्चर्य होता है कि इन तत्ववेत्ताओं के सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना क्यों न की जाय ?''

उपनिषदों की पुनर्व्याख्या के पश्चात् रानडे गीता के ईश्वरानुभूति दर्शन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में वे जिस रूप में गीता की व्याख्या कर रहे हैं वह अभी तक के व्याख्याकारों अथवा दार्शनिकों द्वारा प्रयोग में नहीं लाया गया। गीता पर उनका विचार है कि यद्यपि गीता उपनिषदों का ही सारतत्व है फिर भी इसमें उपनिषदों की अपेक्षा ब्रह्म के स्वरूप तथा साक्षात्कार का वर्णन अधिक स्पष्ट हो जाता है। गीता का दर्शन उनके लिए सर्वोपरि दर्शन है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों मार्गों में तीनों के समन्वय का प्रयास रानडे की रहस्यानुभूति को दृढ भाव–भूमि प्रदान करता है।

गीता दर्शन के पश्चात् उन्हें वेदान्त-दर्शन के प्रति आकृष्ट होना पड़ा। मुख्यतः अद्वैत वेदान्त के प्रति रानडे की अपूर्व निष्ठा थी। एक व्याख्याकार के रूप में तथा समकालीन दार्शनिकों में नव्यवेदान्त की व्यावहारिक परम्परा के पोषक के रूप में, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। रानडे ने अपने को आजीवन अद्वैतवाद की मान्यताओं से सम्बद्ध रखा किन्तु कतिपय सिद्धान्तों में वे अद्वैतमत से आगे भी बढ़ जाते हैं। अद्वैतवाद की मान्यता है कि ब्रह्म निर्गुण है और ज्ञानमार्ग द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते हैं किन्तु रानडे ने ब्रह्म को सगुण रूप में अर्थात् ईश्वर के रूप में माना है, तथा ज्ञानमार्ग से अधिक सशक्त मार्ग वे भक्ति मार्ग को मानते हैं जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार प्रत्यक्ष रूप में संभव है।

प्रायः ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुए दार्शनिकों ने उसे सत् + चित् + आनंद माना है। रानडे ने सत् और चित् को गौण स्थान देते हुए आनन्द को परमतत्व माना है। यही ईश्वर का स्वरूप है जिसकी प्राप्ति के लिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है। इस आनन्द तत्व की प्राप्ति के लिए रानडे ने अपरोक्षानुभूति सिद्धान्त की पुष्टि की। वे मानते हैं कि अपरोक्षानुभूति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार सहज एवं सरल है। रानडे ने इसी विशिष्टता से प्रभावित होकर अपने दर्शन को आनन्दवाद कहा क्योंकि इसमें आनन्द की साक्षात् अनुभूति साधक को होती है। आनन्दवाद सगुण एवं निर्गुण के भेद को दूरकर दोनों प्रकार के ब्रह्म के उपासक सन्तों की अनुभूतियों में सिर्फ आनन्द को ही देखता है। वे कबीर और तुलसी में आनन्दलाभ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं समझते। अंतर मात्र इतना है कि कबीर बुद्धि द्वारा आनन्द तत्व को व्यक्त करते हैं। इस कारण उसे निर्गुण मानते हैं, किन्तु तुलसी का भक्त हृदय उसकी सगुणोपासना में आनन्द पाता है। इस प्रकार रानडे ने समसामयिक दर्शन में सगुण और निर्गुण के भेद को मिटाकर आनन्द तत्व की स्थापना की।

रानडे के दर्शन में आनन्द को परमार्थ मान लेने से मोक्ष संबंधी समस्या का हल स्वयं हो जाता है। आनन्दलाभ सदैव अपरोक्षानुभूति होने के कारण तत्व है। रानडे ने ईश्वर के अस्तित्व की समस्या को मानव जाति की प्रमुख समस्या माना। इस समस्या के हल के लिए उन्होंने भारतीय दर्शन ही नहीं बल्कि पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन किया। दर्शन का अध्ययन कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस समस्या का हल वे तात्कालिक अनुभूति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार बताते हैं। रानडे ने दर्शन में ऐसो कोई भी अनुभूति वर्णित नहीं पायी। अतः उन्होंने दर्शन एवं धर्म के समन्वित प्रयास अर्थात् बौद्धिक रहस्यवाद का प्रणयन किया। उन्होंने सत्ता की तात्कालिक अनुभूति को वर्णनात्मक अथवा तार्किक प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण बताते हुए कहा कि यह प्रक्रिया तर्क से परे है और इसका स्रोत अन्तःकरण है।

बौद्धिक रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूति में बुद्धि की सीमा एवं स्थिति के बारे में प्रश्न करता है और उसमें अतिबौद्धिक तत्वों को समझने का प्रयास करता है। रानडे के मतानुसार बौद्धिक रहस्यवाद को ज्ञान के स्वप्रकाश से ही भली भांति जाना जा सकता है। उनका विरोध बौद्धिक रहस्यवाद से नहीं था। वे अपनी आलोचना द्वारा बुद्धि की इस सीमा को लक्षित करते हैं जो सत्ता के संभव ज्ञान में बाधक है।

अतः रानडे ने तात्कालिक अनुभूति की संभावनाओं की खोजबीन प्रारम्भ की और अन्ततः उनकी प्रामाणिकता को स्वतः सिद्ध बताते हुए एकमात्र अनुभूति को ही परमसत्ता के साक्षात्कार का माध्यम बनाया।

रानडे ने प्रातिभज्ञान द्वारा आत्मानुभूति की सार्थकता को स्वीकार किया। प्रातिभ ज्ञान का विषय अन्दर और बाहर एक समान रहता है। प्रातिभ ज्ञान की ऐसी अवस्था है जिसे प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति कभी उसे ज्ञानातिरेक नहीं समझता। यह पूर्ण जागृति की अवस्था है। रानडे ने इसे गीता दर्शन की पदावली में '' स्थित प्रज्ञ '' कहा तथा उसकी स्थिति को सहज समाधि क्योंकि प्रातिभ ज्ञान का विषय सामान्य और विशेष दोनों हैं जब कि अनुमान व प्रत्यक्ष एक ओर भावना और ज्ञान के द्वैत को बढ़ाते हैं तो दूसरी ओर इच्छा और ज्ञान के द्वैत को। इन द्वैतों को दूर करके अखण्ड चेतना को विकसित करना प्रातिभज्ञान के दार्शनिकों का मुख्य प्रयोजन है। इसका सर्वोत्कृष्ट विकास आत्मानुभूति, अद्वैतानुभूति, या ईश्वरानुभूति में होता है।

ईश्वरानुभूति एक व्यापक प्रक्रिया है। इसके लिए रानडे ने अनुभव के पांच विभिन्न सोपान बताए। पहला सोपान आध्यात्मिक अनुभव को प्राप्त करने की प्रेरणा है। दूसरा सोपान नैतिक तैयारी है। रहस्यवाद में नैतिकता का विशेष स्थान है क्योंकि रानडे ने इसे रहस्यवाद का पयार्य समझा है। तीसरा सोपान, साधक और साध्य अर्थात् ईश्वर का संबंध है। चौथा सोपान आध्यात्मिक यात्रा का शुभारम्भ है तथा पांचवा सोपान चरम उपलब्धि है जिसमें साधक सिद्ध

हो जाता है। तब उसे परमतत्व का साक्षात् दर्शन होता है एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

रानडे आत्मानुभूति को ही मुक्ति या मोक्ष[2] मानते हैं। उनके लिए यह कोई घटना नहीं है बल्कि एक प्रक्रिया है। यह एक उन्नतिशील अनुभूति है। इसे उन्होंने " स्वानुभूति " कहा। यदि आत्मा ही मात्र सत्ता है और स्वानुभव उसे जानने का संगत प्रमाण है तब स्वानुभूति ही आत्मालाभ का साधन भी है। यह स्वानुभूति ही आगे चलकर आध्यात्मिक विकास का मार्गदर्शन करती है। स्वानुभव की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए रानडे ने महात्मा कबीर की " बाहर भीतर एक समान " की साक्ष्य को प्रस्तुत किया और यह स्पष्ट किया कि इसके अन्तर्गत ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत सर्वथा मिट जाता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने संवाद सिद्धान्त और सुसंगति के सिद्धान्त का आश्रय लिया और अन्ततः बादरायण के 'तत्तु समन्वयात्' के प्रभाव से स्वानुभूति को स्वतः प्रमाणित सिद्ध कर दिया।

स्वतः प्रमाण के रूप में स्वानुभूति का प्रयोग दर्शन एवं धर्म दोनों में समान रूप से हुआ है। दर्शन और धर्म को एक भावभूमि पर लाकर रहस्यानुभूति अर्थात् स्वानुभूति द्वारा परमतत्व का ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते हुए उन्होंने तत्सम्बंधी अन्तर्विरोध को दूर कर दिया। रहस्यवादी को अपनी चरमस्थिति में परम आनन्द की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के परिणाम स्वरूप रानडे ने परमानन्द को उसकी गहनता और व्यापकता के संदर्भ में अनुभव किया और इसे ही परमतत्व की संज्ञा दी। इस प्रकार उनका रहस्यवाद आनन्दवाद ही है। उन्होंने अपने आनन्दवाद की विस्तृत व्याख्या 'पाथ वे टु गॉड इन् हिन्दी लिटरेचर' एवं " पाथ वे टू गॉड इन् कन्नड लिटरेचर " में क्रमशः हिन्दी के रहस्यवादी संतों एवं कन्नड संतों के उपदेशों के माध्यम से आनन्दवाद पर विशेष प्रकाश डाला है। रानडे ने इन संतों में आनन्दवाद के साथ

2- रानडे : वेदान्त एज् ए कल्मिनेशन ऑफ् इंडियन थॉट, पृ. सं. 170

ही सर्वधर्म समन्वय की अपूर्ण प्रवृत्ति का दर्शन किया। समन्वय की इस धारणा ने उन्हें रहस्यवाद की गहराई तक पहुँचाया। परिणामतः उन्होंने रहस्यवाद को बौद्धिक ज्ञान से संश्लिष्ट कर उसे एक नवीन चिन्तन आयाम प्रदान किया।

रानडे ने अपने आनन्दवादी दर्शन के प्रणयन में समसामयिक दार्शनिक अर्थात् विवेकानन्द एवं अरविन्द के दर्शन का पूर्ण रूपेण अध्ययन किया। यह अध्ययन उन्हें रहस्यवाद की जड़ को और गहराई तक पहुँचाने एवं उसे दृढ़ बनाने में लाभप्रद सिद्ध हुआ।

अद्वैत मत की यह पुनर्व्याख्या रानडे को चिन्तन की तत्कालीन विधा प्रदान करती हुई उसे व्यावहारिक जीवन से संबद्ध करने की आवश्यकता उपस्थित करती रही। विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त दर्शन मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बंधित एक ऐसा धर्म है जो आत्म-विश्वास की शिक्षा देता है। आत्मा की अनन्तशक्ति का विकास कैसे और कब संभव है इसकी पूर्ण व्याख्या वेदान्त दर्शन में मिलती है। स्वामी जी का कथन है, " प्राचीन धर्मों ने सिखाया है कि जो ईश्वर पर विश्वास नहीं रखता वह नास्तिक है। नवीन धर्म यह कहता है कि जो आत्म-विश्वास नहीं रखता वह नास्तिक है।"[3] स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक विकास का प्रभाव रानडे पर विशेष रूप से पड़ा। परिणामस्वरूप उन्होंने विवेकानन्द के दार्शनिक मत को स्वीकार किया और नव्यवेदान्तकारी के रूप में वेदान्त की पुनर्व्याख्या द्वारा अपने दार्शनिक विचारों को युक्त किया।

नव्य वेदान्त के दूसरे प्रमुख व्याख्याकार एवं दार्शनिक महर्षि अरविंद हैं। इन्होंने समस्त दार्शनिक तथ्यों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने अपने आध्यात्मिक विकासवाद में यह स्पष्ट कर दिया कि जड़ तत्व, नित्य जीव तत्व, प्राणतत्व, मानवतत्व आदि स्तरों

3– दस स्पेक स्वामी विवेकानन्द, पृ. सं. 4–5.

से होता हुआ अतिमानस की ओर बढ़ रहा है। उनका यह विकास भौतिक मानस विकास नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही विकास है।

श्री अरविन्द ने स्वानुभूति द्वारा अतिमानस के स्तर पर पहुँचने का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है उनका कथन है कि "वैचारिक क्रिया की उत्पत्ति से निरन्तर मानवीय अनुभूतियों और विश्वासों द्वारा समर्थन पाकर यह सत्य .....वैज्ञानिक अनुसंधानों के नवजात रूपों में समर्थित होने लगा है।"[4] इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए अरविन्द कहते हैं कि स्वानुभूति हमेशा एक उच्च स्तरीयप्रकाश की झलक या बाहरी किनारा जैसी है। हमारे अन्दर यह एक प्रक्षेपित धार या दूरवर्ती अतिमानसिक प्रकाश का बिन्दु है।

रानडे ने अरविन्द के स्वानुभूति सिद्धान्त की तरह आत्मानुभूति को अपने रहस्यवादी दर्शन का आधार बिन्दु माना। इसे उन्होंने उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जिस अर्थ में अरविन्द ने प्रयोग किया था। अरविन्द यदि स्वानुभूति द्वारा अतिमानसिक स्तर तक पहुँचने का प्रयास करते हैं तो रानडे ने स्वानुभूति द्वारा ही ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास किया है। श्री अरविन्द यदि स्वानुभूति को आरोहण और अवरोहण की मिलन-भूमि मानते हैं तो रानडे इसे आत्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य का प्रयास मानते हैं।

अतः आत्मानुभूति के संदर्भ में श्री अरविन्द ने रानडे का किंचित् मार्गदर्शन किया है। श्री अरविन्द ने अपनी दार्शनिक व्याख्या के अन्तर्गत जगत्, अशुभ की समस्या, विकासवाद, मायावाद, समग्रयोग आदि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है किन्तु रानडे ने रहस्यवादी होने केकारण उन सबकी विस्तृत व्याख्या न करके ईश्वरानुभूति को ही अपने दर्शन का प्रयोजन माना। इसका मुख्य कारण यह है कि वे ईश्वर के स्वरूप एवं उससे साक्षात्कार की समस्या को ही मनुष्य के जीवन की प्रमुख समस्या मानते थे। रहस्यवादी दार्शनिक होने के कारण उन्होंने इसे ही मुख्यतः प्रस्तुत किया है।

तीसरे प्रमुख नव्यवेदान्ती डा. राधाकृष्णन् माने जाते हैं। यद्यपि राधाकृष्णन् रानडे को अपना गुरु मानते थे तथा उनसे दार्शनिक समस्याओं पर राय लेते थे, किन्तु दोनों के दर्शन सिद्धान्तों को स्पष्ट कर देना यहां इसलिए उचित है कि समसामयिक दर्शन में रानडे के योगदान का स्पष्ट निर्धारण हो सके।

डा. राधाकृष्णन् हिन्दू धर्म को अनिवार्य रूप से उपनिषदों पर आधारित मानते हैं। अपने समस्त दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए वे उन्हीं को प्रमाण के रूप में लेते हैं। वे तत्वमीमांसा के संदर्भ में अज्ञेयवाद का खण्डन करते हैं। उनका विचार है कि परमसत्ता का साक्षात्कार संभव है। इसके लिए वे आत्मा की अनन्त शक्ति को आवश्यक मानते हैं।

डा. राधाकृष्णन् का कथन है कि बुद्धि के स्तर पर जिसे मात्र एक " अभ्युपगम " के रूप में स्वीकार करते हैं, वह अनुभूति के स्तर पर अनुभूत सत् में साक्षात् उपस्थित हो जाता है। इस अनुभूति के पश्चात् उनके अस्तित्व के विषय में अविश्वास नहीं रह जाता। वे ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग दोनों का अनुकरण करते हैं। उनके लिए वह ईश्वर के प्रति भक्ति रखने एवं उसकी इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर देने का कार्य है।

रानडे एवं राधाकृष्णन् दोनों यह मानते हैं कि दर्शन यदि सत् से संबद्ध ज्ञान है तो उसे बुद्धि की अपेक्षा अन्तःप्रज्ञा को ही प्रर्याप्त मानना होगा। राधाकृष्णन् भी नव्यवेदान्ती होने के कारण एक ही परमतत्व में विश्वास करते हैं। चूँकि विश्व के सभी धर्म इस परमतत्त्व की प्राप्ति को ही अपना परमलक्ष्य मानते हैं। अतएव सभी में एक सामान्य तत्व विद्यमान है।

यदि ये विभिन्न धर्म संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की स्थिति में नहीं हैं तो उनको ग्रहणशीलता का भाव विकसित करना चाहिए जिससे

पूर्वाग्रहों एवं भ्रान्तियों का उन्मूलन हो सके और वे एक दूसरे के साथ हों जावें क्योंकि सभी धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्तियां हैं।[5]

कृष्णचंद्र भट्टाचार्या भारतीय दर्शन के अन्तर्गत एक व्याख्याकार के रूप में माने जाते हैं। उन्होंने विषयी और विषय इन दो विरोधी तत्वों के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि विषयी कभी भी विषय नहीं हो सकता। विषयीका वास्तविक ज्ञान ही परमतत्व का ज्ञान है। उन्होंने परमतत्व के अन्तर्गत सत्, चित् और आनंद को माना है। रानडे ने इसमें से केवल आनंद को हो तत्वस्वरूप अपरोक्षानुभूति के सन्निकट पाया। यह मान्यता अद्वैत वेदांत एवं संत दर्शन दोनों के अनुकूल है। अतः प्रो. कृष्णचंद्र भट्टाचार्य रानडे के आत्मसत्ता की भाँति विषयीको स्वतः प्रकाश्य मानते हैं। भट्टाचार्य अनुभूति के फलस्वरूप विषयी के अंतर्गत विषयनिष्ठता का क्रमशः विलय स्वीकार करते हैं।

रानडे का समसामयिक दर्शन में योगदान स्पष्ट करते समय मोक्ष की धारणा को समझना आवश्यक है।

भारतीय दर्शन में सर्वाधिक चर्चा का विषय मोक्ष का स्पष्टीकरण है। विभिन्न दार्शनिकों ने मोक्ष की व्याख्या अलग-अलग ढंग से करके इसे अपरिहार्य सा बना दिया था। कोई जीवनमुक्ति के सिद्धान्त को मानता है तो कोई विदेह मुक्ति को। इसके अतिरिक्त सर्वमुक्ति का कथन भी प्राप्त होता है। रानडे ने प्रथम तो जीवनमुक्ति का खंडन किया तथा बताया कि आत्मा शरीरके पतन के बाद ही परमात्मा में विलय[6] होती है। सर्वमुक्ति के सिद्धांत के संबंध में वे तटस्थ दिखायी पड़ते हैं। इससे भिन्न वे परिवार मुक्ति[7] का कथन करते हैं। उनका मत है कि एक मुक्ति तथा सर्वमुक्ति क्रमशः पक्ष और

5- राधाकृष्णन: ईस्ट एण्ड वेस्ट इन् रिलीजन, पृ. सं. 306

6- पाथ वे टु गॉड इन् हिंदी लिटरेचर, रानडे. पृ. सं. 331-32

7- पाथ वे टु गॉड इन् हिंदी लिटरेचर, रानडे, पृ. सं. 264-65

विपक्ष हैं और परिवार दोनों का संपक्ष है। रानडे ने भारतीय दर्शन में मुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों एवं मान्यताओं को प्रस्तुत करते हुए अन्ततः विदेहमुक्ति को स्वीकार किया। समस्त नैतिक आचार संहिता के परिपालन से जीवन–पर्यंत ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से उन्मुख रहना चाहिए। इस काल में भी साधक आनंद प्राप्त करता है किंतु परमानंद की उपलब्धि तो उसे समाधि के पश्चात् ही प्राप्त होती है। इन मान्यताओं को सुदृढ़ बनाते हुए रानडे ने इन्हें मोक्ष के स्वरूप एवं उपलब्धि के सम्बन्ध में '' पाथ वे टु गॉड '' में विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है।

सम्पूर्ण धार्मिक चेतना जो मनुष्य के भौतिक और नैतिक जीवन का संस्कार करती है तथा वह सारी दार्शनिक चेतना जो आध्यात्मिक स्तर पर उसे विकसित या मुक्त करती है यही ईश्वर या सापेक्ष सविशेष ब्रह्म है। रानडे ने उसे सविशेष और साकार माना। यह सर्वथा असम्भव है कि मानव का कोई भी ज्ञान उसकी मानवीय प्रवृत्ति से सर्वथा अप्रभावित हो। यदि यह सच न होता तो शंकर जैसी धारणायें स्वीकार ही न होतीं। रानडे के दर्शन की सबसे बडी विशेषता यह है कि इस पथ पर बढ़ते हुए साधक को सांसारिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं करनी पड़ती बल्कि उसका निर्वाह करते हुए आत्मानुभूति संभव है। एक सामान्य अनुभव द्वारा इसे और अधिक पुष्ट करते हुए रानडे का कहना है कि जब शरीर का नियन्ता व प्रशासक आत्मा है तब ईश्वर का साक्षात्कार भी उसे ही करना चाहिए। शारीरिक प्रगति से यह साक्षात्कार असम्भव है।

'' साधना से सिद्धि '' सिद्धान्त को हृदयंगम करने के पूर्व यह समझना होगा कि आत्मसत्ता का वास्तविक प्रयोजन क्या है ? आत्मा परमात्मा का अंश है। वह श्रेष्ठतम उत्कृष्टताओं से परिपूर्ण है। इसमें प्रेम की उदात्त भावना का समावेश है जिसे रानडे आत्मबोध मानते हैं। आत्मबोध के लिए ईश्वर की कृपा बहुत ही आवश्यक है। बिना ईश्वर

की अनुकम्पा के हम कोई भी पुण्य कार्य नहीं कर सकते। रानडे ने ईश्वरीय अनुकम्पा को अपने रहस्यवाद में महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में स्वीकार किया। इसके साथ ही साधक का चिन्तन एवं कर्तृत्व दोनों इसी दिशा में नियोजित रहना चाहिए। यही आत्मिक उन्नति का क्रम है।

रानडे का धर्म में अटूट विश्वास था। दार्शनिक होते हुए भी वे अपने को एक सन्त अथवा धार्मिक पुरुष कहना ही अधिक उपयुक्त मानते थे। भारतीय समकालीन दर्शन में रानडे ने एक विशिष्ट कार्य और किया है, वह यह है पूर्व और पश्चिम के दर्शन का समन्वय। रानडे ने इस कार्य को अपने प्रारम्भिक जीवन से ही आरम्भ कर दिया था। महान् पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू के विचारों को पढ़कर उनके मन में रहस्यवाद की नींव गहरी होती गयी। ग्रीक दार्शनिकों ने उनके रहस्यवाद को दिशा दी। रानडे ने अपने पाश्चात्य दार्शनिक अध्ययन को भारतीय दार्शनिक अध्ययन से समन्वित कर एक विशिष्ट प्रकार के रहस्यवाद की निष्पत्ति की जिसे आगे चलकर उन्होंने बौद्धिक रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया।

रानडे का विचार है कि धर्म आस्था है और आस्था में तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त रहस्यवाद की नींव तो धर्म ही है। भले ही उस पर दार्शनिक विचारों का महल खड़ा किया गया हो। अतः धर्म एवं दर्शन के अपूर्व समन्वय का प्रयास भी रानडे के रहस्यवाद की बहुत बडी विशेषता है।

एक रहस्यवादी दार्शनिक के अतिरिक्त रानडे हमारे सामने एक व्याख्याकार के रूप में उपस्थित होते हैं। उपनिषद् गीता एवं वेदान्त पर जो व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है वह वैज्ञानिक आधार से परिपूर्ण एवं तत्कालीन परिस्थितियों को समाहित करती है। उपनिषदों की व्याख्या के रूप में वे कितने सफल हैं यह तो उनके सिद्धान्तों का अध्ययन स्पष्ट कर देता है। उनके भाष्यों अथवा व्याख्याओं में उपनिषदों

की मौलिक विशेषतायें और आधारभूत मूल्य विद्यमान हैं। इसलिए उनका रहस्यवाद अपने मौलिक स्वरूप में उपनिषद् दर्शन से अत्यंत भिन्न नहीं है। यद्यपि रानडे ने किसी मौलिक दर्शन की स्थापना नहीं की किन्तु एक व्याख्याकार के रूप में उन्होंने उपनिषदों एवं गीता से रहस्यवाद के जो बीज निःसृत कर समसामयिक दर्शन जगत् में बिखेरे हैं, वह निश्चित ही दर्शन जगत् में रहस्यवादी विचारों को पल्लवित व पुष्पित करते रहेंगे। अनृत के आवरणों में छुपे सत्य को अनावृत्त करने का रानडे का यह प्रयास और जीवन के रहस्यों में उनकी गहरी पैठ उन्हें एक सफल दार्शनिक व रहस्यवादी दोनों कहलाने का दायित्व रखती है।

सहायक ग्रन्थसूची

रानडे कृत ग्रन्थ

पुस्तक का नाम और	लेखक	प्रकाशक एवं वर्ष
ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ् उपनिषदिक् फिलासफी	रानडे	भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1927 ई.
हिस्ट्री ऑफ् इंडियन फिलासफी (मिस्टीसिज्म इन् महाराष्ट्र)		आर्यभूषण प्रेस, पूना 1933 ई.
पाथ वे टु गॉड इन् हिन्दी लिटरेचर		अध्यात्म विद्या मंदिर सांगली, 1954 ई.
पाथ वे टु गॉड इन् कन्नड़ लिटरेचर		भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1960 ई.
एस्सेंज एण्ड रेफ्लेक्शन		भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1964 ई.
द भगवद्गीता एज् ए फिलासफी ऑफ् गॉड रियलाइजेशन		नागपुर विश्व विद्यालय नागपुर, 1959 ई.
वेदान्त द कल्मिनेशन ऑफ् इंडियन थॉट		भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1970 ई.
फिलासफिकल एण्ड अदर एस्सेज		गुरुदेव सत्कार समिति जमखंडी, 1956 ई.
दि कन्सेप्शन ऑफ् स्प्रिचुअल लाइफ इन् महात्मा गांधी एण्ड हिन्दी सेण्ट्स		गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद, 1956 ई.
परमार्थ सोपान		अध्यात्म विद्या मंदिर सांगली, 1954 ई.

रानडे से सम्बन्धित ग्रन्थ

पुस्तक का नाम और लेखक	प्रकाशक एवं वर्ष
आटोबॉयाग्राफी ऑफ् गुरुदेव रानडे ए – डिस्कवरी – वी. सी. केलकर	पूना विश्व विद्यालय 1980 ई.
ए क्रिटिकल एण्ड कन्स्ट्रक्टिव एस्पेक्ट्स ऑफ् रानडेज् फिलासफी – बी. आर. कुलकर्णी	एकेडमी ऑफ् कम्पेरेटिव फिलासफी एण्ड रिलीजन बेलगांव, 1974 ई.
रानडेज् लाइफ ऑफ् लाईट – एम. एस. देशपांडे	भारतीय विद्या भवन बम्बई, 1963 ई.
रानडे का दर्शन – प्रो. संगमलाल पाण्डेय	दर्शन परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, 1958 ई.
उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण – अनु. डा. रामानंद तिवारी अनु. ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ् उपनिषदिक् फिलासफी।	राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1971 ई.

अन्य सहायक ग्रंथ, अंग्रेजी पुस्तकें.

इवोल्यूशन ऑफ् थिओलाजी- इन् ग्रीक फिलासफी। – एडवर्ड केयर्ड	ग्लासगो, 1904 ई.
एन आइडियलिस्ट व्हयू- ऑफ् लाइफ। – डा. राधाकृष्णन्	जार्ज एलेन एण्ड उनविन, लन्दन, 1947 ई.
ए फिलासफी ऑफ् रिलीजन– ब्राइटमेन	रोकिंग्टन, लन्दन
इंडियन फिलासफी – राधाकृष्णन्	जार्ज एलेन एण्ड उनविन, लन्दन, 1970 ई.
ग्राउण्ड वर्क ऑफ् फिलासफी ऑफ् रिलीजन। – एटकिन्स ली	डकवर्ष लंदन, 1946 ई.
द मीनिंग ऑफ् गॉड इन् हयमन एक्सपीरियन्स। – हार्किंग	याले 1912 ई.

पुस्तक का नाम और	लेखक	प्रकाशक एवं वर्ष
प्रिंसपुल ऑफ् साइकोलोजी	– प्रो. जेम्स,	लंदन, 1891 ई.
मिस्टीसिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट.	– रुडोल्ड ओटो	मैकमिलन एण्ड कं. लि.
मिस्टीसिज्म इन् भगवद्गीता	– एम. सरकार	क्लासिकल पब्लिकेशन नई दिल्ली, 1973 ई.
द मिस्टक वे	– ई. अण्डरहिल	जे. एम. दत्त एण्ड सन्स लंदन, 1914 ई.
वैदिक माइथॉलोजी	– ए. ए. मैकडानल	इण्डोलाजिकल बुक हाऊस वाराणसी, 1973
हिंदू मिस्टीसिज्म	– एम. सरकार	केगन पॉल. लंदन, 1934 ई.
हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर	– ए. मैक्डानल	मुन्शी लाल मनोहर लाल दिल्ली, 1961 ई.
प्रॅक्टिकल वेदान्त	– स्वामी विवेकानंद	
कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी	– बसन्त कुमार लाल	मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, 1973 ई.
रिडिल ऑफ् द वर्ड,	– श्री अरविंद	आर्य पब्लिसिंग हाऊस कलकत्ता–1946 ई.
द फिलासफी ऑफ् रवीन्द्रनाथ	– राधाकृष्णन्	मैकमिलन एण्ड कं. लि. लंदन, 1919 ई.
ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट	– राधाकृष्णन्	आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली, 1977
सब्जेक्ट एज् ए फ्रीडम्	– के. सी. भट्टाचार्या	इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ् फिलासफी आमलनेर, 1930 ई.
कन्टेम्परेरी इंडियन फिलासफी	– राधाकृष्णन्	जार्ज एलेन एण्ड उनविन्, लंदन, 1952 ई.

पुस्तक का नाम और	लेखक	प्रकाशक एवं वर्ष
इ स्टडीज इन् फिलासफी	– के. सी. भट्टाचार्या	प्रोग्रेसिव प्रेस कलकत्ता, 1956

हिन्दी माध्यम की पुस्तके

ईशावास्य रहस्य	– सत्यदेव शास्त्री	हिन्दी समिति सूचना विभाग लखनऊ, 1965 ई.
गीता रहस्य	– लोकमान्य तिलक	बम्बई, 1933, ई.
गीतायुग जीवन के संदर्भ में	– शान्ति जोशी	रामनारायण बेनीमाधव इलाहाबाद, 1973 ई.
दर्शन के प्रकार	– ले. हार्किंग अनु. रमेशचन्द्र	राजस्थान हि. ग्र. अ. जयपुर
नाथ और संत साहित्य	– डा. नागेन्द्र उपाध्याय	का. हि. वि. वि. वाराणसी 1965 ई.
भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	– संगमलाल पाण्डेय	सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद, 1976 ई.
संत काव्य	– परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल इलाहाबाद, 1952 ई.
दास बोध	– रामदास	चित्रशाला स्ट्रीम प्रेस पूना, 1979 ई.
वेदरहस्य	– महर्षि अरविन्द अनु. विद्यालंकार	श्री अरविन्द सोसायटी पांडिचेरी, 1972 ई.
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	– डा. रामकुमार वर्मा	रामनारायण वेनी माधव इलाहाबाद, 1968 ई.
श्री अरविन्द दर्शन	– अभय चन्द्र भट्टाचार्य	जगवन्धु प्रकाशन ज्ञानपुर वाराणसी, 1973 ई.
श्री मद् भगवद्गीता	– श्रीधर स्वामी	गीता प्रेस गोरखपुर
ज्ञान मूल और सत्	– संगमलाल पाण्डेय	साहित्यवाणी इलाहाबाद 1973 ई.

पुस्तक का नाम और	लेखक	प्रकाशक एवं वर्ष
ब्रह्म सूत्र भाष्यम्	– श्री भास्कराचार्य विरचितम्	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो वाराणसी
समकालीन भारतीय दर्शन	– लक्ष्मी सक्सेना	उ. प्र. हि. ग्र. अ. लखनऊ, 1974 ई.
भक्तियोग	– स्वामी विवेकानन्द	अद्वैत आश्रम अल्मोडा 1930 ई.
सत्य की ओर	– डा. राधाकृष्णण्	राजपाल एण्ड सन्स नई दिल्ली, 1969 ई.
ज्ञानयोग	– स्वामी विवेकानन्द	अद्वैत आश्रम अल्मोड़ 1930 ई.
राजयोग	– स्वामी विवेकानन्द	अद्वैत आश्रम अल्मोड़ा 1930 ई.
उपनिषदों की भूमिका	– राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्स
	– अनु. रामानन्द शास्त्री	कश्मीरी गेट दिल्ली तृ. सं. 1976
हिंदी में मराठी सन्तों की देन	– पं. विनयमोहन शर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद 1956 ई.

पत्रिकाएं

अखंड ज्योति	– भगवती देवी शर्मा	युग निर्माण योजना मथुरा, 1982 ई.
कल्याण		गीता प्रेस गोरखपुर
दार्शनिक प्रथम वर्ष तृतीय अंक	– संगमलाल पाण्डेय – दर्शन परिषद	दर्शन परिषद प्रयाग. 1955 ई.

Our other Publications

1) **God Realisation**
(Sadhana & Effects)
Rs. 7/-

2) **Critical and Constructive Aspects of Dr. R. D. Ranade's Philosophy.**
(Prof. B. R. Kulkarni)
Rs. 12/-

3) **Silver Jubilee Souvenir, Vol. I**
(Pillars of Sri Gurudeo's Sampradaya & Heart Homages to Sri. Gurudeo.)
Rs. 32/-

4) **Silver Jubilee Souvenir Vol. II**
(Gurudeo's Philosophy of God Realisation)
(K. D. Sangoram & M. S. Deshpande).
Rs. 15/-

5) **Gurudeo Ranade : Biography & Mysticism.**
(S. N. Deshpande)
Rs. 24/-

For catalogue and terms of sale contact :

Academy of Comparative Philosophy & Religion,
BELGAUM-590 011.